विवेक ज्योति

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर

हिन्दी
त्रैमासिक

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जनवरी - फरवरी - मार्च

★ १९७१ ★

प्रधान सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक ● ब्रह्मचारी निर्गुण चैतन्य

सह-सम्पादक ● सन्तोषकुमार झा

वार्षिक ४) वर्ष ९ अंक १ एक प्रति १)

फोन : १०४६

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,

रायपुर (मध्यप्रदेश)

अनुक्रमणिका

कव्हर चित्र परिचय – स्वामी विवेकानन्द

(शिकागो में, सितम्बर १८९३)

विवेक मुद्रणालय, महाल, नागपुर २.

पाठकों से निवेदन

श्रीभगवान् की असीम अनुकम्पा से 'विवेक-ज्योति' अपने गौरवशाली नवें वर्ष में पदार्पण कर रही है। इस अवसर पर हम अपने समस्त ग्राहकों को उनके सहयोग के लिए हार्दिक धन्यवाद देते हुए उनके प्रति नूतन वर्ष हेतु शुभकामनाएँ करते हैं।

पिछले वर्ष इन्हीं दिनों हमने अपने सहृदय पाठकों से निवेदन किया था कि गत तीन-चार वर्षों से कागज का मूल्य और छपाई का दाम निरन्तर बढ़ता जा रहा है। अन्य पत्र-पत्रिकाओं ने अपने दाम बढ़ा दिये है। पर हमने अभी तक सर्वसामान्य पाठकों की सुविधा का ख्याल रख, विवेक-ज्योति का शुल्क वही रखा है। इससे हमारे सामने आर्थिक कठिनाई आ खड़ी हुई है। अतएव हमने अपने प्रेमी ग्राहकों से अनुरोध किया था कि वे यदि कृपापूर्वक 'विवेक-ज्योति' के दो-दो नये वार्षिक सदस्य बना दें तो हमारी कठिनाई कुछ मात्रा में कम हो जायगी।

हमारे कुछ पाठक-पाठिकाओं ने हमारे इस अनुरोध का मान रखा और उनके सहयोग से ग्राहकों की संख्या में लगभग २०० की वृद्धि हुई। हम इस वर्ष भी अपने समस्त स्नेही ग्राहकों के समक्ष वही अनुरोध दुहराते हैं। पिछले कुछ महीनों में कागज का दाम और भी बढ़ा है। जिस कागज के रीम को पिछले वर्ष हम १८) से २०) में खरीदते थे आज उसी का दाम ३२) कर दिया गया है। इसी से आप हमारी आर्थिक कठिनाई का अनुमान लगा सकते हैं।

हम आपकी सुविधा के लिए एक व्यापारिक जवाबी कार्ड साथ में सलग्न कर रहे हैं। अनुरोध है कि आप इस पर दो नये ग्राहकों का नाम और पता लिखकर बिना टिकट लगाये, हमें यथाशीघ्र भेजने की कृपा करें। धन्यवाद!

व्यवस्थापक,
'विवेक-ज्योति'

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(१२ वीं तालिका)

५०७. श्री के. के. सेनगुप्ता, मोतीलाल नेहरूनगर, दुर्ग ।

५०८. श्री जे. एन. मनसुखानी, मोतीलाल नेहरूनगर, दुर्ग ।

५०९. श्री अजीत सिंह, पुलिस स्टेशन के पीछे, दुर्ग ।

५१०. श्री छेदीलाल कुर्मी, सेक्टर--२, भिलाई--१ ।

५११. श्री लखनलाल बिजौरा, डिवीज़नल इंजीनियर, एम. पी. ई. बी., भिलाई ।

५१२. श्री दुर्ग रोडवेज प्राइवेट लि०, दुर्ग ।

५१३. श्री प्रह्लादकुमार तिवारी, अधिवक्ता, दुर्ग ।

५१४. श्री रामकृष्ण सेवा केन्द्र, नीमच ।

५१५. श्री मुकुन्दलाल अग्रवाल, रायपुर ।

५१६. श्री प्रधानाध्यापक, शासकीय पूर्व माध्यमिक विद्यालय, चण्डी बाजार (रायपुर)।

५१७. श्री ओमप्रकाश गोयल, होजियारी सेन्टर, नीमच ।

५१८. श्री ईश्वरलाल राँका, धन्तोली, नागपुर–१ ।

५१९. मेसर्स आइडियल स्टोर्स, गाँधी रोड, अहमदाबाद ।

५२०. डा० डी. एम. मेंढेकर, बोयसा-थाना, (महाराष्ट्र)।

●

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

श्रीरामकृष्ण - विवेकानन्द - भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष ९] जनवरी – फरवरी – मार्च [अंक १

वार्षिक शुल्क ४) ★ १९७१ ★ एक प्रति का १)

जियें कैसे ?

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरंगैस्तुष्टुवांसस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहितं यदायुः ।।

—हे देवगण ! हम कानों से कल्याणमय वचन सुनें; सेवाभाव से कर्म करने में समर्थ होकर हम नेत्रों से शुभ दर्शन ही करें; हम अपने स्थिर अंगों और शरीरों से स्तुति करते हैं; हम लोग देवताओं का हित करते हुए अपनी आयु का भोग करें ।

—मुण्डकोपनिषद्, शान्तिपाठ ।

काहू न अबला करि सकैं !

किसी गाँव में एक ब्राह्मण रहा करते थे। थे तो निर्धन, पर वे चरित्र से शुद्ध और निर्लोभी थे। उनकी विद्वत्ता और निःस्पृहता से प्रभावित हो बहुत से लोग उनके शिष्य बन गये थे। उनके शिष्यों में कपड़े का एक धनी व्यापारी भी था। यह व्यापारी स्वभाव का बड़ा कंजूस था। एक दिन ब्राह्मणदेवता को अपनी पोथी बाँधने के लिए कपड़े के एक छोटे से टुकड़े की आवश्यकता हुई। उन्होंने विचार किया कि इतनी छोटी सी बात के लिए किसी से पैसा क्यों माँगूं, क्यों न अपने उस व्यापारी शिष्य के पास जाकर कपड़े का टुकड़ा ही ले लूँ। ऐसा सोचकर वे अपने शिष्य के पास गये और पोथी लपेटने के लिए कपड़े की माँग की। व्यापारी ने उत्तर दिया, "महाराज, अगर आपने थोड़ी ही देर पहले बतलाया होता, तो आपने जैसा कपड़ा माँगा है वह मैंने दे दिया होता। दुर्भाग्य से अभी मेरे पास वैसा कोई कपड़े का छोटा टुकड़ा नहीं है जिससे आपका काम निकल जाय। सचमुच मुझे बड़ा दुख है कि मैं आपके लिए कुछ कर न सका। पर मैं आपकी यह माँग ख्याल में रखूंगा। आप भी कृपया मुझे बीच बीच में इसकी याद दिला देते रहें।"

यह सुन ब्राह्मणदेवता खिन्न मन से लौट पड़े। उन्होंने

कल्पना भी न की थी कि इस छोटीसी चीज के लिए उनका वह व्यापारी शिष्य उन्हें इस प्रकार निराश कर देगा । जब गुरु और उनके उस सुयोग्य शिष्य के बीच वार्तालाप चल रहा था तब परदे के पीछे से शिष्य की पत्नी ने सारी बातचीत सुन ली थी । उसने चुपके से अपना एक आदमी ब्राह्मणदेवता को बुला लाने भेजा । जब ब्राह्मण लौटकर आये तो उन्हें घर के अन्दर ले जाकर शिष्य की पत्नी ने पूछा, "महाराज ! आप घर के मालिक से किस चीज की माँग कर रहे थे ?" ब्राह्मण ने सारी बात कह सुनायी । इस पर उस महिला ने कहा, "महाराज ! अब आप घर लौट जायें । कल सुबह इच्छित वस्तु आपको मिल जायेगी ।"

इधर रात में जब व्यापारी दुकान बन्द कर घर लौटा तो पत्नी ने पूछा, "क्या तुमने दुकान बन्द कर दी है ?" व्यापारी बोला, "हाँ तो । कहो, क्या बात है ?" पत्नी ने कहा, "तुम तुरत जाओ और तुम्हारी दुकान में सबसे अच्छे प्रकार का जो कपड़ा है उसके दो टुकड़े लेते आओ ।" इस पर व्यापारी ने कहा, "अरे भई, ऐसी भी क्या जल्दी है ! मैं कल सुबह तुम्हारे लिए सबसे उम्दा कपड़ा ले आऊँगा ।" पर पत्नी न मानी, उसने आग्रहपूर्वक कहा, "देना हो तो अभी ला दो, नहीं तो रहने दो ।" इस पर बेचारा व्यापारी क्या करता ? अभी सामने आध्यात्मिक गुरु तो थे नहीं कि उनको वह गोल-गोल बातें बनाकर टाल देता; अभी

तो समक्ष ऐसी गुरू खड़ी थीं जिनके आदेश का पालन चट-पट कर देना चाहिए, अन्यथा घर में शान्ति के बिगड़ जाने की सम्भावना थी। वह चुपचाप उठा और उस बीते रात को दुकान खोलकर कपड़ा ले आया। पत्नी को कपड़ा सौंपते हुए बोला, "लो, अब तो खुश हो?"

दूसरे दिन सुबह उस भली महिला ने कपड़ा गुरु के पास भिजवा दिया। साथ में यह सन्देश भी कहलवा भेजा, "भविष्य में जब भी किसी चीज की जरूरत हो तो आप मुझे बता दिया करें, आपको चीज आ जायेगी।"

ब्राह्मणदेवता गुरु बनकर जो कार्य न करा सके, उसे अबला ने चट करा दिया! नारी की मोहिनी शक्ति कितनी जबरदस्त है!

•

लाखों स्त्री-पुरुष पवित्रता के अग्निमन्त्र से दीक्षित होकर भगवान के प्रति अटल विश्वास से शक्तिमान बनकर और गरीबों, पतितों तथा पददलितों के प्रति सहानुभूति से सिंह के समान साहसी बनकर इस सम्पूर्ण भारत देश में सर्वत्र उद्धार के सन्देश का, सेवा के सन्देश का, सामाजिक उत्थान के सन्देश का, समानता के सन्देश का प्रचार करते हुए विचरण करेंगे। (पत्रा. १,८१)

—स्वामी विवेकानन्द

पवित्रता - उसकी साधनाएँ और सिद्धि

स्वामी श्रद्धानन्द

(स्वामी श्रद्धानन्दजी रामकृष्ण मिशन के सैन फ्रान्सिस्को, अमेरिका स्थित 'वेदान्त सोसायटी ऑफ नार्दर्न कैलिफोर्निया' नामक केन्द्र में कार्यरत हैं। प्रस्तुत लेख में उन्होंने आध्यात्मिक जीवन के अनिवार्य अंग–पवित्रता–का विश्लेषण करते हुए उसकी प्राप्ति के उपायों पर प्रकाश डाला है। यह लेख 'वेदान्त एण्ड दि वेस्ट' के सितम्बर-अक्तूबर १९६४ के अंक में पकाशित हुआ था। वहीं से यह अनूदित और साभार गृहीत है।--स)

यद्यपि सम्भवत: हममें से प्रत्येक को 'पवित्रता' की सहज धारणा है तब भी पवित्रता की व्याख्या करना कष्टसाध्य है। उदाहरणार्थ, जब हम किसी मन्दिर या गिरजाघर के पास से गुजरते हैं और यदि हम अत्यन्त नास्तिक न हों, तो हम उसे एक साधारण भवन के रूप में नहीं देख सकते। हमारे मन में कुछ विचार उठते हैं, कुछ भावना होती है कि यह स्थान ईश्वर का स्थान है---एक पवित्र स्थान है। जब हम बाइबिल या गीता पढ़ते हैं तो पुनः हमें सहज अनुभूति होती है कि यह अन्य पुस्तकों की भाँति नहीं है। 'ट्रॉपिक ऑफ कैन्सर' या इसी प्रकार की अन्य किसी पुस्तक के साथ इसकी तुलना नहीं की जा सकती। यद्यपि हमने गीता या बाइबिल को पूर्णतया पढ़ा भी न हो तब भी हम यह अनुभव करते हैं कि यह पुस्तक किसी ऐसी अलौकिक वस्तु से सम्बद्ध है जो हमें पवित्रता और भगवत्प्रेम

प्रदान करने में समर्थ है। ईसा के अन्तिम भोज के स्मरणोत्सव में गिरजाघर में जो प्रसाद ग्रहण किया जाता है उस पर विचार कीजिये। हम पवित्र रोटी का एक टुकड़ा या पवित्र सुरा की एक घूंट ले लेते हैं। चाहे हम परम भक्त न भी हों, तब भी हमारे मन में इस विचार का उठना अवश्यम्भावी है कि हमने कुछ ऐसी वस्तु को ग्रहण किया है जो साधारण खाने-पीने की वस्तु से बहुत भिन्न है। हम भले ही न समझ पाते हों कि बात क्या है, पर फिर भी हम अस्पष्ट रूप से ऐसा विश्वास करते हैं कि एक प्रकार का अलौकिक गुण हमें प्राप्त हो गया है।

इसी प्रकार, कुछ स्थान भी हैं जिन्हें हम पवित्र कहते हैं, यथा——जेरूसलम, बेथलहम, मक्का, बनारस इत्यादि। जब कोई यहूदी या ईसाई या मुसलमान या हिन्दू धार्मिक भावनाओं से युक्त होकर इनमें से किसी स्थान को जाता है तब उसे एक अवर्णनीय अनुभूति होती है जिसे हम पवित्रता कह सकते हैं। कुछ पवित्र नदियाँ होती हैं; उदाहरणार्थ, भारत में गंगा नदी। कोई भी धर्मनिष्ठ हिन्दू अन्य जलस्रोतों से गंगा नदी की तुलना नहीं करेगा क्योंकि इस नदी के साथ युगों पुरानी परम्परा संयुक्त है। फिर सभी धर्मों में कुछ पावन अवशेष विद्यमान रहते हैं; उदाहरणार्थ, बौद्धों के लिये भगवान् बुद्ध का दाँत। सामान्य दृष्टिकोण से एक दाँत में भला क्या है– वह तो एक मृत दाँत मात्र है। कुछ

सहस्रिधान्य (milligrams) रासायनिक द्रव्य छोड़कर वह कुछ भी नहीं है। किन्तु क्या एक बौद्ध भगवान् बुद्ध के दाँत को इस दृष्टि से देख सकता है? वह विश्वास करता है कि इस दाँत में कुछ अलौकिक गुण, कुछ गूढ़ शक्ति अन्तर्निहित है। फिर हम समय के साथ भी पवित्रता सम्बद्ध कर देते हैं, यथा---ईसाइयों के लिये क्रिसमस, हिन्दुओं के लिये दशहरा इत्यादि। इन विशेष पर्वों पर स्वभावतः ही हमारा मन उन पवित्र घटनाओं का स्मरण करता है जिनके कारण ये दिन स्मरणीय हो गये हैं। उपर्युक्त उदाहरणों से सिद्ध है कि किस प्रकार जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में हमें पवित्रता की धारणा होती है। परन्तु पवित्रता की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण धारणा तो तब होती है जब हम इसे मनुष्य के साथ युक्त करते हैं। एक पवित्र मनुष्य (सन्त) ही सब पवित्र वस्तुओं में श्रेष्ठ है।

अब, यदि हम इस पवित्रता के गुण का मनुष्य के सन्दर्भ में विश्लेषण करें, तो हम इसे संक्षेप में केवल एक शब्द से निर्धारित न कर सकेंगे। पवित्रता एक संश्लिष्ट गुण प्रतीत होती है। पवित्रात्मा कौन है? पवित्र जीवन क्या है? पवित्रता, निस्सन्देह, मुख्यतया चरित्र की अत्यन्त शुचिता को लक्ष्य करती है, तथापि यह एक नैतिक गुण मात्र नहीं है। पवित्रात्मा की पवित्रता तो आध्यात्मिक अनुभूति से उत्पन्न होती है। यह केवल जीवन के सामान्य प्रलोभनों से मुक्त होना

मात्र नहीं है अपितु यह वह गुण है जो उसके व्यक्तित्व के प्रत्येक तन्तु को सरल बना देती है; उसके शरीर के प्रत्येक कोष को, उसके मन के प्रत्येक विचार को तथा उसके हृदय के प्रत्येक भाव को रूपान्तरित कर देती है। इस प्रकार की पवित्रता तभी आ सकती है जब आध्यात्मिक सत्य के साथ प्रत्यक्ष संस्पर्श हुआ हो, ईश्वर की अपरोक्षानुभूति हुई हो। जब हम किसी सन्त के सान्निध्य में आते हैं तो हमें उसके चरित्र की पवित्रता में तनिक भी सन्देह नहीं रहता। हम स्वतः ही यह अनुभव करते हैं कि यह व्यक्ति सब कुटिलताओं, रागों और प्रलोभनों से मुक्त है। बृहदारण्यक उपनिषद् में ऐसे व्यक्ति की आँखों की तुलना सूर्य से की है। सूर्य में हम किसी भी प्रकार के अन्धकार की कल्पना नहीं कर सकते। इसी प्रकार एक मुक्तपुरुष की आँखों में किसी प्रकार का दोष नहीं होता। वे सर्वत्र आत्मा का उज्ज्वल प्रकाश देखती हैं। उसी उपनिषद् में ऐसे पुरुष के मन की तुलना चन्द्रमा से की है। ज्योत्स्ना के प्रति हमारा क्या भाव है? ज्योत्स्ना पवित्रता की प्रतीक है और साथ ही साथ कोमल और सुहावनी है। एक सन्त के मन की तुलना चन्द्रमा से इसलिये की गयी है कि इस प्रकार का मन निर्मलता एवं कोमलता से परिपूर्ण सुस्पष्ट प्रभाव की वृष्टि करता है। एक सन्त की यह महान् पवित्रता केवल नैतिक अनुशासन से नहीं आ सकती। यह तो तभी व्यक्त होती है जब मनुष्य समस्त अच्छाइयों

के, समस्त पवित्रता के स्रोत तक पहुँच जाता है, जब वह हमारे जीवन और सृष्टि के अन्तराल में निहित उस आध्यात्मिक सत्य तक पहुँच जाता है जिसे हम साधारण भाषा में ईश्वर कहकर पुकारते हैं।

अतः स्वाभाविक ही पवित्रता के दूसरे अंग के रूप में हमें भगवत्प्रेम का उल्लेख करना होगा। एक सन्त यथार्थतः भगवत्प्रेमी पुरुष ही होता है। वेदान्त में ईश्वर को 'रस' कहा है, जिसका अर्थ है सार। ईश्वर समस्त माधुर्य, प्रेम और आनन्द का सार है। जब कोई व्यक्ति अपने सम्पूर्ण हृदय से ईश्वर को प्रेम करता है तो वह स्वयं भी अत्यन्त माधुर्य और आनन्द का विग्रह बन जाता है। चरित्र का ऐसा परिपाक पवित्रता का एक आवश्यक अंग है। हम नित्य प्रति प्रेम के विभिन्न रूपों से परिचित हैं—परिवार के प्रति प्रेम, देश के प्रति प्रेम, विज्ञान के प्रति प्रेम, अन्य अनेक वस्तुओं के प्रति प्रेम, किन्तु एक सच्चे भक्त का ईश्वर के प्रति जो प्रेम है वह हमारे परिचित प्रेम के विभिन्न रूपों से सौ गुना तीव्र होता है। जब हम किसी सन्त के सान्निध्य में आते हैं तो अनुभव होता है कि उनके हृदय में समस्त प्रेमों का स्रोत—ईश्वर—विराजमान है। उनके लिये ईश्वर कोरी कल्पना नहीं बल्कि मूर्त सत्य होता है। जैसा कि श्रीरामकृष्ण देव ने कहा है, "पतिव्रता का पति के प्रति प्रेम, लोभी का धन के प्रति प्रेम और माँ का अपने शिशु के प्रति प्रेम—इन तीनों प्रेमों की सम्मिलित तीव्रता से

जब हम ईश्वर को चाहते हैं तब ईश्वर के दर्शन होते हैं।" ये तीन प्रकार के प्रेम हमारे जीवन में प्रसिद्ध हैं और श्रीरामकृष्ण इन उदाहरणों के द्वारा हमें यह विश्वास दिलाते हैं कि जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में प्रेम के जिन विभिन्न रूपों का हम अनुभव करते हैं, वे सभी ईश्वर के प्रेम में केन्द्रित हो जाते हैं। शास्त्र यह घोषित करते हैं तथा सन्तों के जीवन प्रमाणित करते हैं कि इस प्रेम को जाग्रत् करना सम्भव है। जब हम ऐसा करने में समर्थ होते हैं तब पवित्र हो जाते हैं। तब एक अतुलनीय प्रेम, एक अलौकिक माधुर्य और दिन प्रति दिन बढ़नेवाला आनन्द हमारे व्यक्तित्व में व्याप्त हो जाता है।

पवित्रता में ज्ञान भी एक तत्त्व है जो आध्यात्मिक सत्य की अपरोक्षानुभूति से आता है। हमारा साधारण ज्ञान मानो चारों ओर से अभेद्य दीवारों से घिरा हुआ है। हम भले ही एक महान् वैज्ञानिक, या दार्शनिक, या अर्थशास्त्री हों; हमने भले ही हजारों पुस्तकों का अध्ययन किया हो, फिर भी हमारा यह ज्ञान सम्भवतः पूर्णता को प्राप्त नहीं हो सकता। इसके विपरीत, आध्यात्मिक ज्ञान समस्त संशय एवं भ्रम से मुक्त पूर्ण ज्ञान है। यह जीवन के समस्त रहस्यों, अन्धकार एवं अज्ञान को भेदकर प्रकाशित होता है। चरित्र की परम पवित्रता एवं दिव्य प्रेम के साथ साथ यह गहन आध्यात्मिक ज्ञान सन्त का वैशिष्ट्य प्रकट करता है। उसे मानो एक

नया नेत्रों का जोड़ा मिल जाता है, जिसके द्वारा वह प्रत्येक वस्तु को एक नयी दृष्टि से देखता है। उसके लिये सर्वत्र ईश्वर की ही ज्योति प्रकाशित हो रही है। इस ज्ञान के आलोक में जीवन का अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है, हमारे अतीत, वर्तमान और भविष्य का अर्थ सुस्पष्ट हो जाता है। जब तुम ऐसे व्यक्ति से मिलो या बातें करो तो उसके अतीन्द्रिय ज्ञान की उज्ज्वल आभा का प्रभाव तुम पर पड़े बिना नहीं रह सकता।

पवित्रता का एक और आवश्यक अंग है स्थिरता। सन्त किसी भी परिस्थिति में विचलित नहीं होता। उसका मन सुख या दुःख, स्तुति या निन्दा से विक्षुब्ध नहीं होता। वह सदा मन का एक अद्भुत सन्तुलन रखता है। यह स्थिरता आध्यात्मिक ज्ञान से प्राप्त होती है। चूँकि वह जीवन की निरन्तर परिवर्तनशील घटनाओं में शाश्वत के दर्शन कर लेता है, इसलिये उसके मानसिक सन्तुलन को कोई भी वस्तु नष्ट नहीं कर पाती।

मानवजाति के प्रति महान् प्रेम सन्त का और एक लक्षण है। वह अन्य प्राणियों के लिये अपने जीवन का भी परित्याग करने के लिये सदैव तत्पर रहता है क्योंकि उसके लिये सारा विश्व ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है। अतएव भगवान् को प्रेम करने का अर्थ है भगवान् की सृष्टि को प्रेम करना। यदि तुम देखो कि कोई व्यक्ति अपने को सन्त घोषित करता है और दूसरों की

पीड़ाओं के प्रति क्रूर है तो उसकी पवित्रता पर सन्देह करने का तुम्हें पूर्ण अधिकार है। एक सन्त के सान्निध्य में हमारी समस्त उदासीनता और म्लानता लुप्त हो जाती है। वह एक ताप बिखेर देता है जिससे हमारी व्यथा के गहरे घाव भर जाते हैं। एक सन्त कभी दुर्बल मनुष्य नहीं होता। बल पवित्रता का एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण लक्षण है। एक आध्यात्मिक प्रबुद्ध व्यक्ति ऐसी शक्ति की खान होता है, जो समस्त दुर्बलताओं, समस्त प्रलोभनों, समस्त संकीर्णताओं, घृणा और द्वेष भाव को चुनौती देती है। एक सन्त के सान्निध्य में हम भी यह अनुभव करते हैं कि हम दुर्बल और क्षुद्र नहीं हैं।

तो इससे स्पष्ट है कि मनुष्य के लिये पवित्रता का तात्पर्य वह आध्यात्मिक पूर्णता है, जिसमें चरित्र की शुद्धता, अगाध भगवत्प्रेम, मानव के प्रति अपार सहानुभूति, आध्यात्मिक ज्ञान, मन की प्रशान्ति और महान् बल सम्मिलित हैं। वस्तु, स्थान, समय और घटनाएँ तभी तक पवित्र हैं जब तक ये हममें उपर्युक्त गुणों को जाग्रत् करती हैं। ये गुण निश्चय ही हमारी समझ की सीमा के अन्दर हैं। जब किसी आध्यात्मिक आदर्श को दार्शनिक रूप से हमारे सम्मुख उपस्थित किया जाता है तो हम डर जाते हैं। उदाहरणार्थ, जब हम सुनते हैं कि आध्यात्मिक जीवन का उद्देश्य है मुक्ति या निर्वाण, या स्वर्ग इत्यादि, तो प्रायः हममें उसके प्रति अधिक

अभिरुचि उत्पन्न नहीं होती क्योंकि इन विचारों को हम स्पष्ट रूप से नहीं समझ पाते। किन्तु इस पवित्रता के आदर्श से हम भली प्रकार परिचित हैं। दिव्य प्रेम के परम महत्त्व को कौन अस्वीकार कर सकता है ? एक निर्दोष चरित्र के प्रति कौन स्वाभाविक श्रद्धा का अनुभव नहीं करता ? आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टिजनित ज्ञान की महान् शक्ति को कौन अस्वीकार कर सकता है ? या उस परम शान्ति और बल को, जो हम बुद्ध, ईसा और रामकृष्ण में देखते हैं, कौन अस्वीकार कर सकता है ? अतः पवित्रता के रूप में वर्णित आध्यात्मिक पूर्णता एक सहज बोधगम्य गुण है।

वेदान्तशास्त्र घोषित करते हैं कि यदि हम आवश्यक साधना के लिये प्रस्तुत हों तो पवित्रता का यह महान् आदर्श इसी जीवन में प्राप्त किया जा सकता है। जिस प्रकार हम अपनी किसी प्राणप्रिय वस्तु के लिये त्याग करने में और धैर्यपूर्वक कार्य करने में नहीं हिचकिचाते उसी प्रकार हमें आध्यात्मिक पूर्णता अर्थात् पवित्रता की प्राप्ति के लिये मनसा-वाचा-कर्मणा अपने को लगा देना होगा। लक्ष्य को पाने के लिए तीव्र व्याकुलता होनी चाहिये; तब साधना अर्थपूर्ण हो जाती है। अतएव यदि हम पवित्रता के परम महत्त्व को समझलें, तो हम संघर्ष से जूझने के लिये स्वाभाविक रूप से तत्पर हो जायेंगे। तब हमें कुछ भी निरुत्साहित न कर सकेगा। हमें सदा यह बोध बना रहेगा कि हम असम्भव कार्य

की चेष्टा नहीं कर रहे हैं। जैसे आज हम अन्तरिक्ष की यात्रा में विश्वास कर लेते हैं, उसी प्रकार हमें आध्यात्मिक पूर्णता की यात्रा में भी विश्वास अवश्य कर लेना चाहिये। यही साधना का पहला और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सोपान है।

हम दूसरी बात यह जान लें कि पवित्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। वेदान्तशास्त्र कहते हैं कि मनुष्य स्वरूपतः पवित्र ही है; वह पापी होकर नहीं जन्मा है। जीवन में भूलों एवं त्रुटियों के रूप में पाप अवश्य है किन्तु वह हमारे व्यक्तित्व का मौलिक स्वरूप नहीं है। हमारे गहन अन्तःकरण में एक मूलभूत तत्त्व है, और वह है हमारी अमर आत्मा, जो स्वयं पवित्रता ही है। हमें यह पूर्ण विश्वास होना चाहिये कि हमारी साधना उस निधि की प्राप्ति के लिये है जो अनन्तकाल से हमारी ही है। किसी वस्तु ने इसे आवृत कर लिया है और हमें इस आवरण को हटाना मात्र है। यह कार्य सरल भले न हो किन्तु असम्भव नहीं है। हम स्मरण करें कि यीशु क्या कहते हैं, 'माँगो, और वह तुम्हें दिया जायेगा; ढूँढ़ो, और तुम पाओगे; खटखटाओ, और वह तुम्हारे लिये खोल दिया जायेगा।" साधना के समय यीशु के इस उपदेश को सदैव अपने समक्ष रखना चाहिये। यह हमें आशा और उत्साह प्रदान करेगा।

ईश्वर-चिन्तन को स्वभावतः हमारी साधना में मुख्य स्थान ग्रहण करना चाहिये; किन्तु स्मरण रखें कि

हमारी ईश्वर सम्बन्धी धारणा एक सजीव धारणा होनी चाहिये। ईश्वर को हम अपने हृदय में स्थित एक वास्तविक सत्ता मानें जो समस्त प्रेम, पवित्रता और बल का मूलस्रोत है। अपने दैनिक आचरण में हम यह विचार लाने की चेष्टा करें कि पवित्रता का स्रोत ईश्वर हमसे दूर नहीं है बल्कि निरन्तर हमारे अन्तर में स्थित है। ईश्वर-चिन्तन के क्षणों में, भले ही वह पाँच मिनट के लिये हो, हमें समस्त प्रेम, पवित्रता और बल के स्रोत उस ईश्वर से सम्पर्क करने की चेष्टा करनी चाहिये।

छान्दोग्योपनिषद् में ईश्वर को 'भूमा' कहा है जिसका व्यापक दृष्टि से अर्थ है 'महान्'। हमें ईश्वर को संकीर्ण धर्म-सम्प्रदायों और मतों के स्तर पर नहीं ले आना चाहिये। ईश्वर को उसका यथोचित स्थान दो। वह महान् है--यथार्थतः महान् उसकी महानता में सब कुछ सम्मिलित है। जब हम कहते हैं कि ईश्वर महान् है और दूसरे ही क्षण जब हम सोचते हैं कि ईश्वर ईसाइयों का है, या यहूदियों का, या हिन्दुओं का, या मुसलमानों का, तब हम अपनी ही बात कहते हैं। यदि ईश्वर महान् है तो वह सब वस्तुओं से महान् होगा--समय से महान् आकाश से महान्, मन से महान्, जीवन से महान्, मृत्यु से महान्, सभी ज्ञात और अज्ञात वस्तुओं से भी महान्। हम ऐसा नहीं कह सकते कि ईश्वर केवल मानव-इतिहास का पूरक है; ऐसा भी

नहीं कह सकते कि वह किसी विशेष जनसमूह का उद्धारक है। यह सत्य है कि ईश्वर काल के अन्तर्गत होनेवाली समस्त घटनाओं और इतिहास की विशिष्टताओं के लिए उत्तरदायी है, किन्तु इतने में ही वह चुक नहीं जाता। वह अक्षय है। वह इतिहास से, काल से, हमारे मत, सम्प्रदाय और ग्रन्थों से भी महान् है। ईश्वर-चिन्तन के समय हमें ईश्वर की एवंविध महानता का अनुभव करने की चेष्टा करनी चाहिये। इससे हममें चरित्र की यथार्थ भव्यता, यथार्थ पवित्रता निखर उठेगी। हम प्रायः वर्षों धार्मिक जीवन व्यतीत करने की चेष्टा करते हैं किन्तु हम अपने आध्यात्मिक दृष्टिकोण को उदार नहीं बनाते। इससे हमारे चरित्र में परिवर्तन नहीं हो पाता। हम जैसे संकीर्ण मानव जन्मे थे वैसे ही रहते हैं। हम धार्मिक कहाते तो हैं परन्तु हमारा हृदय नहीं खुलता। क्या यह एक दुःख की बात नहीं है ? अतएव आओ, हम महान् ईश्वर का चिन्तन करें और उसकी महानता के हम भी भागी बनें। महानता का अर्थ है आध्यात्मिक पूर्णता—अज्ञान, संकीर्णता, कट्टरता और द्वेष से मुक्ति, राग और पक्षपात से मुक्ति।

तो, पवित्रता के लिये यही साधना की प्रणाली है। हम सदा स्मरण रखें कि यह साधना अर्थहीन नहीं है। यदि हममें धैर्य और अध्यवसाय है, तो अवश्य ही हमें साधना में सिद्धि मिलेगी। वह सिद्धि क्या है ? वह

सिद्धि निश्चय ही विलक्षण है। सन्त फ्रान्सिस की उस प्रार्थना का स्मरण करो—"हे प्रभो! मुझे अपनी शान्ति का एक यंत्र बना लो; जहाँ घृणा हो वहाँ मुझे प्रेम बोने दो; जहाँ प्रहार हो वहाँ क्षमा; जहाँ संशय हो वहाँ विश्वास; जहाँ निराशा हो वहाँ आशा; जहाँ अन्धकार हो वहाँ प्रकाश; और जहाँ उदासी हो वहाँ प्रसन्नता।" विचार करो कि एक व्यक्ति अपने चारों ओर शान्ति, आनन्द, बल, प्रेम और विश्वास विकीर्ण कर रहा है। क्या ऐसा चरित्र समाज के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नहीं है? वास्तव में पवित्रता हमारे जीवन में, परिवार में और समाज में एक बोधगम्य मूल्य है, व्यावहारिक मूल्य है। पवित्रात्माओं के सान्निध्य एवं स्पर्श से समस्त समाज का उत्थान हो जाता है। समाज को विद्वानों और राजनीतिज्ञों की अपेक्षा पवित्र पुरुषों और स्त्रियों की अधिक आवश्यकता है। मानवता की माँग है—निःस्वार्थ प्रेम और पवित्रता के महान् आदर्श की व्यावहारिक अनुभूति। उसकी उत्कट माँग है—आध्यात्मिक प्रकाश, आनन्द और शान्ति। और वह आनन्द, शान्ति, प्रेम और सहानुभूति कहाँ से आयेगी? विज्ञान से नहीं, शिल्प-विज्ञान से नहीं, राजनीति से नहीं, सन्धि और समझौतों से नहीं, बल्कि उपर्युक्त आदर्शों के जीवन्त उदाहरणों से—ऐसे सन्तों से जो पवित्रता से भरे हैं। तो आओ, हम गम्भीरता से इस प्रयास में लग जायें। हम आशा, उत्साह और धैर्य के

साथ लगन से साधना में तत्पर हो जायें। ईश्वर की कृपा से हमें सिद्धि अवश्य मिलेगी। और तब वह पूर्णता केवल हमारे लिये ही नहीं बल्कि हमारे आसपास के लोगों के लिये, मित्रों के लिये, पड़ोसियों के लिये और समाज के लिये वरदानस्वरूप होगी, क्योंकि पवित्रता वह सर्वोच्च मूल्य है जिसकी हम व्याख्या तो नहीं कर सकते पर जिसका हम सहज अनुभव कर सकते हैं तथा जिसे अपने अधिकार में ला सकते हैं।

•

स्वार्थपरता ही, अर्थात् स्वयं के सम्बन्ध में पहले सोचना ही सब से बड़ा पाप है। जो मनुष्य यह सोचता रहता है कि मैं पहले खा लूं, मुझे ही सबसे अधिक धन मिल जाय, मैं ही सर्वस्व का अधिकारी बन जाऊँ, मेरी हीं सब से पहले मुक्ति हो जाय तथा मैं ही औरों से पहले सीधा स्वर्ग को चला जाऊँ, वह निश्चय ही स्वार्थी है। निःस्वार्थ व्यक्ति तो यह कहता है 'मुझे अपनी चिन्ता नहीं है, मुझे स्वर्ग जाने की भी कोई आकांक्षा नहीं है, यदि मेरे नरक में जाने से भी किसी को लाभ हो सकता है तो भी मैं उसके लिए तैयार हूँ।' यह निःस्वार्थता ही धर्म की परीक्षा है। जिसमें जितनी ही अधिक निःस्वार्थता है वह उतना ही आध्यात्मिक है तथा उतना ही श्रीशिवजी के समीप है।

—स्वामी विवेकानन्द

शम्भुनाथ मल्लिक

डा. नरेन्द्र देव वर्मा

दक्षिणेश्वर के समीप ही श्रीरामकृष्ण देव के एक भक्त की उद्यानवाटिका थी। उन्होंने वहाँ एक दातव्य औषधालय प्रारम्भ किया था। श्रीरामकृष्ण सन्ध्या के समय प्राय: टहलते-टहलते उधर निकल जाया करते थे तथा अपने भक्त के साथ काफी समय तक भगवच्चर्चा करते रहते थे। एक दिन उन्होंने अपने भक्त से कहा कि उनके पेट में कुछ गड़बड़ी है। तब भक्त ने कहा कि जब वे वापस लौटने लगें तो उनसे औषध ले लें। किन्तु बात ही बात में दोनों को दवाई की सुधि नहीं रही। सन्ध्या बीत चली और रात्रि का अन्धकार गहरा होने लगा। श्रीरामकृष्ण अपने भक्त से विदा लेकर दक्षिणेश्वर की ओर लौटे। रास्ते में उन्हें याद आया कि उन्हें तो दवाई लेनी थी। वे फिर वापस लौटे। तब उनका भक्त वहाँ नहीं था। निदान उन्होंने औषधालय के कर्मचारी से दवा ली और वापस लौटे। पर तभी एक विलक्षण घटना घटी। सामने का पथ उनकी दृष्टि से ओझल हो गया और वे लड़खड़ाते हुए आगे बढ़ने लगे। भक्त की उद्यानवाटिका से दक्षिणेश्वर अत्यन्त निकट था। दक्षिणेश्वर से उनका घर स्पष्ट दिखायी देता था। पर वही पथ जो श्रीरामकृष्ण देव का जाना-

पहचाना था, आँखों से ओझल हो गया और उनकी दृष्टि जाती रही। इस घटना पर विचार करने पर उन्हें मालूम हुआ कि उनके भक्त ने उन्हें स्वयं औषध देने के लिए कहा था पर उन्होंने औषधालय के कर्मचारी से दवा ले ली थी। सम्भवतः इसी से उनकी दृष्टि जाती रही थी। यह सोचकर श्रीरामकृष्ण पुनः लौटे। पर औषधालय का कर्मचारी औषधालय बन्द कर अपने घर चला गया था और वहाँ कोई नहीं था। फिर भी श्रीरामकृष्ण ने खिड़की से दवा अन्दर डालते हुए कहा, "मैं तुम्हारी दवाई यहाँ छोड़े जा रहा हूँ।" और वे पुनः लौटे। अब की बार सारा पथ उन्हें सामने दीख रहा था और उन्हें वापस लौटने में कोई कठिनाई नहीं हुई। तभी तो श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, "जिसने अपना सब कुछ माता को सौंप रखा है, माता उसके पैरों को कभी बेताल नहीं होने देती!"

श्रीरामकृष्ण देव के ये भक्त थे शम्भुनाथ मल्लिक। जब श्रीरामकृष्ण इनसे परिचित नहीं हुए थे तभी जगन्माता ने भावावस्था में उन्हें मल्लिक के बारे में बता दिया था। श्रीरामकृष्ण ने कहा था, "माता ने मुझे बताया है कि उन्होंने एक अन्य व्यक्ति को मेरा रसददार बनाया है। वह व्यक्ति गौरवर्ण है और उसके सिर पर ताज है।" इस घटना के अनेक दिन बाद जब उनका शम्भुनाथ से साक्षात्कार हुआ तब उन्होंने कहा, "हाँ, इसी व्यक्ति को मैंने पहले भावावस्था में देखा था।"

श्रीरामकृष्ण देव के ये दूसरे रसददार शम्भुनाथ मल्लिक सनातन मल्लिक के एकमात्र पुत्र थे। वे बंगाल के प्रसिद्ध वैश्य वंश से सम्बद्ध थे। कलकत्ते के सिंदुरियापट्टी मुहल्ले में उनका घर था। इसके अलावा दक्षिणेश्वर के पास भी उनकी एक उद्यानवाटिका थी तथा वे प्रायः वहीं रहा करते थे शम्भुनाथ ने एक विदेशी फर्म के एजेन्ट के रूप में प्रचुर अर्थ उपार्जित किया था पर उनमें धनवानों के-जैसे दुर्गुण नहीं थे। उनका चरित्र दृढ़ था तथा उनमें भक्ति भावना भी भरी हुई थी। इन्हीं सद्‌गुणों के कारण वे श्रीरामकृष्ण देव के सम्पर्क में आये थे। इस सम्पर्क ने उनके जीवन को आध्यात्मिक सम्पदा से भी परिपूर्ण कर दिया।

धनी होते हुए भी शम्भुनाथ धनवानों के आडम्बरों से काफी दूर थे। वे प्रायः पैदल ही बागबाजार से दक्षिणेश्वर लौटा करते। उनके समान धनी व्यक्ति का पैदल चलना विस्मयकारक था। यदि कोई उनसे कहता, "यह क्या? इतना लम्बा रास्ता आप पैदल चलकर आये हैं! यदि कोई दुर्घटना हो जाती तो?" तब शम्भुनाथ रुष्ट होकर उत्तर देते, "ऐसा कैसे हो सकता है? भगवान् का नाम लेकर मैं घर से चला था। फिर कैसे दुर्घटना होती?" इससे शम्भुनाथ की निरभिमानता के साथ उनका ईश्वर पर दृढ़ विश्वास भी प्रकट होता है।

श्रीरामकृष्ण देव प्रायः ही शम्भुनाथ की उद्यानवाटिका

में सन्ध्या के समय जाया करते और उनसे काफी देर तक ईश्वर-चर्चा किया करते थे। इससे शम्भुनाथ आनन्दित होते। कभी-कभी श्रीरामकृष्ण देव से वे कहते, "आप मेरे घर इसीलिए तो आते हैं कि आपको मुझसे बातें करना अच्छा लगता है।" एक दिन जब श्रीरामकृष्ण ने उन्हें बताया कि जिस प्रकार भक्त भगवान् को चाहता है उसी प्रकार भगवान् भी अपने भक्त के प्रति आकर्षित होते हैं, तो शम्भुनाथ अत्यन्त प्रसन्न हो उठे थे। उन्हें विश्वास हो गया कि ईश्वर की कृपा उन पर अवश्य होगी।

और प्रभु ने उनके विश्वास को प्रतिफलित भी कर दिया। शम्भुनाथ को सात सुदीर्घ वर्षों तक युगावतार की सेवा करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। श्रीरामकृष्ण देव के प्रथम रसददार श्री मथुरानाथ विश्वास थे। वे दक्षिणेश्वर के कालीमन्दिर की निर्मात्री रानी रासमणि के जामाता थे। उन्होंने अपने अन्तिम काल तक श्रीरामकृष्ण देव की मन-प्राण से सेवा की थी। उनका देहावसान ६ जुलाई सन् १८७१ को हुआ था। इसके बाद कुछ दिनों तक श्री मणिमोहन सेन ने श्रीरामकृष्ण के लिये आवश्यक सामग्रियों की व्यवस्था की। पर जैसे ही शम्भुनाथ श्रीरामकृष्ण देव के पुनीत साहचर्य में आये वैसे ही उन्होंने यह कार्यभार स्वयं उठा लिया और सन् १८७७ तक मृत्युपर्यन्त वे युगावतार के लिये आवश्यक वस्तुओं की व्यवस्था करते रहे। उनके रहते

श्रीरामकृष्ण देव को खान-पान विषयक कोई चिन्ता नहीं करनी पड़ती थी। कहीं आने-जाने के लिए गाड़ी-भाड़े का इन्तजाम भी शम्भुनाथ के द्वारा कर दिया जाता था।

शम्भुनाथ के समान उनकी पत्नी भी श्रीरामकृष्णदेव और श्रीमाँ सारदादेवी के प्रति अपार श्रद्धा-भक्ति रखती थीं। जब भी श्रीमाँ दक्षिणेश्वर में रहतीं तब वे प्रति मंगलवार श्रीमाँ को अपने घर ले जातीं और साक्षात् जगदम्बा के भाव से उनकी षोड़सोपचार पूजा किया करतीं। शम्भुनाथ श्रीरामकृष्ण को अत्यन्त श्रद्धा से 'गुरुजी' कहा करते थे। कभी-कभी श्रीराम-कृष्ण इस सम्बोधन से ऊब जाते और कह उठते, "अरे, यह क्या ? मैं कैसे गुरु हो गया ? तुम ही मेरे गुरु हो।" पर शम्भुनाथ ने उन्हें गुरुजी कहना न छोड़ा।

श्रीरामकृष्ण शम्भुनाथ को मात्र सेवक ही नहीं बनाये रखना चाहते थे। वे उन्हें दान-सेवा आदि के कार्यों से ऊपर उठाकर ईश्वरीय राज्य में प्रविष्ट करना चाहते थे। इस दृष्टि से उन्होंने शम्भुनाथ को अनेक उपदेश दिये। शम्भुनाथ बड़े कर्मठ व्यक्ति थे। साथ ही उनमें भक्ति की भावना भी भरी हुई थी। उनका विचार था कि वे अपनी सम्पत्ति को कल्याण-कार्यों में लगा दें। इसी उद्देश्य से वे एक दिन श्रीरामकृष्ण से बोले, "मेरी इच्छा है कि मैं कुछ रुपये सत्कर्म में लगा सकूँ।" इस पर श्रीरामकृष्ण देव ने कहा, "ईश्वर का साक्षात्कार होने

पर क्या तुम औषधालय या चिकित्सालय बनवाने की बात कहोगे ?" श्रीरामकृष्ण यह नहीं चाहते थे कि शम्भुनाथ केवल समाजसेवी बनकर रह जायँ। शम्भुनाथ उन्हें गुरु मानते थे तथा श्रीरामकृष्ण भी अपने इस गृही-शिष्य की आध्यात्मिक उन्नति करना चाहते थे। इसीलिए जब शम्भुनाथ ने पुनः उनसे कहा, "आप मुझे आशीर्वाद दीजिए जिससे मैं अपना समस्त वैभव आपके चरणकमलों में समर्पित कर देह त्याग सकूँ", तो श्रीरामकृष्ण देव ने उनसे कहा था, "यह ऐश्वर्य तो केवल तुम्हारी ही दृष्टि में है। तुम भला ईश्वर को क्या दे सकते हो ? उनके समक्ष तो यह सब लकड़ी-मिट्टी के समान है। कर्त्तव्य-कर्म को निष्काम भाव से करना चाहिए, पर कर्त्तव्यों को जान-बूझकर बढ़ाना ठीक नहीं है।"

श्रीरामकृष्ण देव का यह मन्तव्य नहीं था कि शम्भुनाथ सभी प्रकार के कर्मों से अपना सम्बन्ध तोड़ लें अथवा निष्काम भाव से भी कर्म करना छोड़ दें। वे चाहते थे कि उनका मन ईश्वर के पादपद्मों में निमज्जित हो जाय। वे ईश्वर-साक्षात्कार को जीवन का प्रमुख लक्ष्य मानते थे तथा वे चाहते थे कि ईश्वर को जो जानना चाहता है उसे ऐसे कार्य ही करने चाहिए जो इस उद्देश्य की पूर्ति में सहायक हों। यदि कोई व्यक्ति कर्मों को ही अपने जीवन का उद्देश्य बना ले तो वह ईश्वर को भूलकर कर्मों में उलझकर रह जायेगा।

इसीलिए उन्होंने शम्भुनाथ का ध्यान ईश्वर-साक्षात्कार की ओर उन्मुख करने का प्रयास किया था। उन्होंने कालान्तर में कहा था, "वह (शम्भुनाथ) भक्त है, इसीलिए मैंने ऐसा कहा।" उन्होंने शम्भुनाथ से भी कहा था, "यदि कोई सभी कर्मों को निःस्वार्थ भाव से कर सके तो यह अच्छा है पर ऐसा करना बड़ा कठिन है। फिर भी, चाहे जो हो, तुम्हें यह याद रखना चाहिए कि जीवन का उद्देश्य ईश्वर का साक्षात्कार करना है, न कि औषधालय या चिकित्सालय खोलना। कर्म प्रारम्भिक सोपान मात्र है, वह अन्तिम लक्ष्य नहीं है।"

श्रीरामकृष्ण देव के सदुपदेशों को शम्भुनाथ ने केवल सुना ही नहीं, प्रत्युत जीवन में भी उतारने की कोशिश की। यद्यपि उन्होंने अनेक दातव्य औषधालयों की स्थापना की थी, तथापि उनका मन क्रमशः सर्वतोभावेन ईश्वर के पादपद्मों में समर्पित होने लगा। श्रीमाँ सारदा तब दक्षिणेश्वर के नौबतखाने में अत्यन्त कष्ट से दिन बिताया करती थीं। शम्भुनाथ ने उनके लिए एक नया भू-खण्ड खरीदा और नेपाल के श्री विश्वनाथ उपाध्याय के सहयोग से उनके निवास के लिए कुटीर का निर्माण कराया। वे सदैव श्रीरामकृष्ण देव और श्रीमाँ की सेवा के लिए प्रस्तुत रहते थे। धीरे-धीरे वे वैराग्य के उच्चतर सोपानों पर आरूढ़ होने लगे। एक दिन उन्होंने श्रीरामकृष्णदेव के भानजे हृदयराम से कहा, "हृदू, अब तो मेरे दिये का तेल चुक गया है।" जब श्रीराम-

कृष्ण को इस बात का पता चला तब वे शम्भुनाथ से बोले, "यह भला कैसी बात कहते हो?" इस पर शम्भुनाथ ने उत्तर दिया था, "मुझे आशीर्वाद दीजिए जिससे मैं इन समस्त वस्तुओं को त्यागकर भगवान् के समीप पहुँच सकूँ।" जीवन के अन्तिम प्रहर में शम्भुनाथ ईश्वरीय कृपा से धन्य हो उठे। उनका मुख सदैव प्रदीप्त रहा करता। ईश्वर पर उनका विश्वास अटूट हो गया। इसी समय एक बार अत्यन्त भावोद्दीप्त होकर उन्होंने श्रीरामकृष्ण देव के समीप पहुँचकर कहा था, "यदि कोई निष्ठा से ईश्वर को पुकारे तो वे अवश्य उसकी पुकार को सुनते हैं!"

अपने जीवन के अन्त अस्त में शम्भुनाथ मधुमेह से पीड़ित थे। रोग की प्रबलता से अन्तिम दिनों में उन्हें बड़ी पीड़ा होती थी पर उनका मुख सदैव ईश्वरीय आह्लाद से दमकता रहता था। यद्यपि शम्भुनाथ के जीवन की अन्य घटनाएँ अल्प ही ज्ञात हैं तथापि श्रीराम-कृष्ण देव के जीवन की अनेक घटनाएँ उनसे सम्बद्ध हैं। ईसाई धर्म की साधना करने के पूर्व श्रीरामकृष्ण देव ने शम्भुनाथ से ही बाइबिल सुनी थी। उसी के उपरान्त वे ईसाई धर्म की साधना में लगे थे और उन्हें यीशु के दर्शन हुए थे। शम्भुनाथ पहले ब्राह्मसमाजी थे और इन्हीं के साथ पहले-पहल ब्राह्मसमाज के मूर्धन्य नेता केशवचन्द्र सेन ने युगावतार के दर्शन किये थे।

●

गीता प्रवचन—७

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान ।)

पिछले प्रवचन में हमने सप्रमाण यह सिद्ध करने का प्रयास किया था कि गीता का गायन मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी को हुआ होगा। यह भी कहा था कि महाभारत ग्रन्थ का प्रणयन युद्ध के लगभग पचास वर्ष बाद हुआ होगा। इसका उल्लेख हमें उक्त ग्रन्थ में ही प्राप्त होता है। अतः यह जानने के लिए कि गीता का उद्गीरण आज से कितने वर्ष पूर्व हुआ होगा, यह जान लेना पर्याप्त होगा कि महाभारत कब लिखा गया। हम पूर्व प्रवचन में कह ही चुके हैं कि गीता महाभारत का ही अंश है, अतः महाभारत का रचना-काल गीता का भी रचना-काल है और इस काल से पचास वर्ष पूर्व श्रीभगवान् के मुख से गीता का उपदेश निकला होगा।

महाभारत का काल-निर्णय करने के लिए हमें बहुतसी बातों पर विचार करना पड़ता है। महाभारत ग्रन्थ में ही लिखा है कि उसमें एक लाख श्लोक हैं। काल-प्रवाह के कारण इस संख्या में कुछ न्यूनाधिकता अवश्य हो गयी है, क्योंकि आज जो महाभारत ग्रन्थ हमें प्राप्त है उसमें हरिवंश के श्लोकों को मिलाने पर भी संख्या एक लाख तक नहीं पहुँचती। तथापि यह तो माना ही जा सकता है कि जब 'भारत' से 'महाभारत'

तैयार किया गया होगा तो उसका कलेवर एक लाख श्लोकों वाले महाभारत-जैसा ही हुआ होगा। कहते हैं कि 'भारत' में २४००० श्लोक थे। इसमें केवल भरतवंशियों की कथा थी। दूसरे उपाख्यान इसमें नहीं लिये गये थे। महाभारत में एक श्लोक आता है (आदिपर्व, १।१०२)—

चतुर्विंशति साहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम्।
उपाख्यानैः विना तावद् भारतं प्रोच्यते बुधैः॥

इसी भारत का विस्तार एक लक्ष श्लोकों वाले महाभारत में किया गया। कहते हैं कि विस्तारकर्ता सौति उग्रश्रवा थे जिन्होंने 'भारत' में कई आख्यान और उपाख्यान जोड़ दिये।

महाभारत के प्रथम श्लोक से पता चलता है कि उसका एक नाम 'जय' भी है। वह श्लोक ऐसा है—

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत्॥

यहाँ पर लेखक 'जय' यानी महाभारत की रचना के पहले श्रीकृष्ण के रूप में नारायण को नमस्कार करते हैं, फिर वे नारायण के लीला-सहायक नररूप नरोत्तम अर्जुन को नमस्कार करते हैं और अन्त में देवी सरस्वती को, जिन्होंने गिरा दी, वाणी दी, शब्द दिये।

एक दूसरी परम्परा कहती है कि 'जय' और 'महाभारत' एक नहीं हैं, वे दोनों अलग अलग हैं। इस परम्परा का कथन है कि महाभारत सर्वप्रथम ८०००

श्लोकों का बना। उसके रचयिता स्वयं वेदव्यास थे और उसका नाम 'जय' था। उन्हीं के शिष्य वैशम्पायन ने इसका विस्तार २४००० श्लोकों वाले ग्रन्थ में किया और उसका नाम पड़ा 'भारत'। फिर बाद में सौति उग्रश्रवा ने उस 'भारत' में कई आख्यान-उपाख्यान जोड़कर उसका कलेवर एक लाख श्लोक का बना दिया और उसी का नाम हुआ 'महाभारत'। पर यह बात कुछ ठीक मालूम नहीं पड़ती। भिन्न भिन्न सूत्रों से जो तथ्य प्राप्त होते हैं उनसे यही विदित होता है कि मूल ग्रन्थ तो 'महाभारत' ही था जिसमें एक लाख श्लोक थे। उसी को 'जय' के नाम से भी जाना जाता था। उसमें से विभिन्न कहानियों और आख्यायिकों को निकाल-कर २४००० श्लोकों वाला एक ग्रन्थ बना लिया गया जिसे 'भारत' के नाम से पुकारा गया। महाभारत के अनुक्रमणिका–अध्याय में एक श्लोक है (१०१), जिसमें कहा है कि आद्य भारत तो एक लक्ष श्लोक वाला ग्रन्थ ही है।

इदं शतसहस्त्रं तु लोकानां पुण्यकर्मणाम्।
उपाख्यानैः सह ज्ञेयम् आद्यं भारतमुत्तमम्॥

हम महाभारत में ही पढ़ते हैं कि उसकी रचना के लिए व्यासदेव को तीन वर्ष लगे, और वह भी तब जब उन्हें गणेशजी के समान आशुलिपिक मिले। यदि मूल महाभारत ८००० या २४००० श्लोकों वाला होता तो सोचने की बात है कि उसे लिखने के लिए तीन वर्ष

की क्यों आवश्यकता होती, और फिर उसके लेखन के लिए आशुलिपिक का ही क्यों प्रयोजन होता ?

आपको वह कथा मालूम होगी। जब व्यासदेव को महाभारत लिखने की प्रेरणा हुई तो वे एक ऐसे लिपिक की तलाश में थे जो उनकी वाणी को चटपट लिखता जाय। गणेशजी अपनी सेवाएँ देने के लिए राजी हो गये पर उन्होंने व्यासदेव से कहा, "विद्वन् ! मैं लेखन का कार्य अपने ऊपर लेने के लिए तैयार हूँ, पर एक शर्त है। यदि आप इस शर्त को पूरा करें तो मैं कार्य-भार सँभाल सकता हूँ।" व्यासदेव ने पूछा, "भाई, आपकी वह शर्त कौनसी है ?" गणेशजी बोले, "मेरी लेखनी कहीं पर रुकनी नहीं चाहिए। आप मुझे इस प्रकार लिखाते रहें कि तनिक देर के लिए भी मेरी लेखनी को विराम न प्राप्त हो। यदि यह शर्त आप स्वीकार करते हैं तो मैं लेखन का कार्य कर सकता हूँ।" व्यास ने इस पर कहा, "गणेशजी ! आपकी बात मुझे मान्य है, पर इसके साथ मैं भी एक शर्त आपके सामने रखता हूँ।" "कौनसी शर्त ?" गणेशजी ने पूछा। व्यास बोले, "जो भी आप लिखेंगे, बिना समझे हुए नहीं लिखेंगे। यदि आप मेरी इस शर्त को स्वीकार करते हैं तो मुझे भी आपकी शर्त मान्य है।" गणेशजी ने व्यासदेव की शर्त मान ली और दोनों लिखाने और लिखने बैठे। ज्यों ज्यों व्यासदेव की वाणी से शब्द झरते, गणेशजी शीघ्र उनको लिपिबद्ध कर लेते। व्यासजी ने अनुभव

किया कि इसी प्रकार अगर चलता रहा तो वे हार जायेंगे, क्योंकि छन्दों और श्लोकों की धाराप्रवाह रचना करना आसान काम नहीं है। फिर श्लोकों में आगे-पीछे की बात सोचकर पूर्वापर सम्बन्ध बिठाना पड़ता है। इस सबके लिए तो समय चाहिए। अतः व्यासजी ने एक युक्ति की। हर १०-१२ श्लोक के बाद वे एक ऐसा श्लोक बना देते जिसको समझने के लिए गणेशजी को सिर खुजलाना पड़ता और उनकी लेखनी थम जाती। इस बीच व्यासदेव आगे के श्लोकों की रचना कर लेते। उन श्लोकों को जिन्हें समझने के लिए गणेशजी को भी समय लगता, 'कूट श्लोक' कहकर पुकारा गया है। महाभारत में ही लिखा है कि इन कूट श्लोकों की संख्या ८८०० है। इनके सम्बन्ध में भगवान् व्यास कहते हैं, "ये जो महाभारत के कूट श्लोक हैं उन्हें मैं जानता हूँ और मेरा पुत्र शुकदेव जानता है। संजय जानता है या नहीं इसमें सन्देह है।"—'संजयो वेत्ति वा न वा'। कुछ विद्वान् 'वा न वा' को एक शब्द 'वानवा' मानते हैं और प्राचीन कोष के अनुसार उसका अर्थ 'चतुर' करते हैं—'वानवा चतुरः पुमान्'। इस प्रकार वे उक्त पद्य का अर्थ करते हैं कि 'संजय जानता है और चतुर पुरुष भी जान सकते हैं।' अतः कूट श्लोक वे हैं जिन्हें व्यास, शुक, संजय तथा चतुर पुरुष ही समझते हैं। पर अभी तक निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सका है कि महाभारत के वे ८८०० कूट श्लोक कौनसे हैं जिनको

समझने के लिए गणेशजी को भी लेखनी रख देनी पड़ती थी। यह शोध के लिए एक अच्छा विषय हो सकता है। अस्तु।

हमने ऊपर कहा कि महाभारत के हमें तीन स्तर प्राप्त होते हैं। हमें इसके वक्ता और श्रोता की तीन जोड़ियाँ प्राप्त होती है। सर्वप्रथम जोड़ी तो व्यासमुनि और गणेशजी की है, दूसरा युग्म वैशम्पायन और जनमेजय का है तथा तीसरी जोड़ी सूत लोमहर्षण और शौनक की है। कुछ लोग कहते हैं कि वैशम्पायन और जनमेजय के परस्पर प्रश्नोत्तर-रूप श्लोक तथा सूत और शौनक के परस्पर संवाद के श्लोकों को जोड़कर सूत-पुत्र उग्रश्रवा ने महाभारत को वर्तमान रूप दिया। यह सत्य है कि प्राचीन ग्रन्थों में हमें 'भारत' और 'महा-भारत' ऐसे दो नाम प्राप्त होते हैं। अतः यदि उग्रश्रवा को ही महाभारत को वर्तमान रूप देनेवाला मान लिया जाय, तो भी भारत और महाभारत के रचनाकाल में अधिक अन्तर नहीं पड़ेगा। उग्रश्रवा व्यास-शिष्य लोमहर्षण के पुत्र थे, अतः ऐसा माना जा सकता है कि भारत और महाभारत एक काल की ही रचनाएँ हैं। दोनों में अन्तर यह है कि महाभारत एक लाख श्लोक वाला ग्रन्थ है, जबकि भारत में २४००० श्लोक हैं। इन दोनों में से कौनसा ग्रन्थ पहले रचित हुआ, यह ठीक ठीक निर्णय करना अत्यन्त कठिन है।

आश्वलायन गृह्यसूत्र के तर्पण-प्रकरण में भारत और

महाभारत दोनों के आचार्यों का तर्पण लिखा है। आश्वलायन गृह्यसूत्र का रचनाकाल आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व माना जाता है। महर्षि पाणिनि के ग्रन्थ से पता चलता है कि वे भी महाभारत से परिचित थे। प्राचीन शिलालेखों में भी महाभारत के लिए 'शतसाहस्री संहिता' लिखा मिलता है। वैदेशिक यात्री डियोन्क्रायस्टो स्टोन भी लिखता है कि महाभारत में लाख श्लोकों का इतिहास निबद्ध है।

इन सबके अलावे, कालनिर्णय के लिए नक्षत्र आदि की स्थिति का अध्ययन सबसे महत्त्वपूर्ण उपाय है। पर यह एक जटिल विज्ञान है जिसमें केवल तज्ञों की ही गति होती है। लोकमान्य तिलक ने गीतारहस्य में इस दृष्टि से भी सूक्ष्म विवेचन किया है।

इन सब तथ्यों को एकत्र करने पर आदि-महाभारत का रचना-काल आज से लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व निर्णीत होता है। और चूँकि गीता महाभारत के प्रथम स्तर में ही सम्मिलित थी, इसलिए बिना किसी विशेष बाधा के यह स्वीकार किया जा सकता है कि गीता का उद्गीरण आज से प्रायः पाँच हजार वर्ष पूर्व हुआ होगा।

अब थोड़ी चर्चा महाभारत के रचयिता भगवान् व्यास के सम्बन्ध में भी कर लें। ये गीता के भी लेखक हुए। तात्पर्य यह कि भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन के वार्तालाप को छन्दोबद्ध कर उसे विस्तारित और विभाजित

करने का श्रेय इन्हीं को प्राप्त हुआ । तो, ये व्यास कौन थे ? इनके दो नाम प्रमुख रूप से हमारे सामने आते हैं--एक, कृष्णद्वैपायन व्यास और दूसरा, बादरायण व्यास । कुछ लोग इन दोनों नामों को दो अलग अलग व्यक्तियों के नाम बतलाते हैं । यानी, उनका कहना है कि महाभारत आदि ग्रन्थों के प्रणेता कृष्णद्वैपायन व्यास थे तथा ब्रह्मसूत्रों के रचयिता बादरायण व्यास थे । पर ऐसा मत भारतीय परम्परा के विरुद्ध है । भारतीय परम्परा में एक ही व्यास के अनेक नाम माने जाते हैं । कृष्ण उनका व्यक्तिगत नाम है । इस नाम का कारण यह हो सकता है कि उनका वर्ण कुछ श्याम हो । द्वीप में पैदा होने के कारण वे द्वैपायन कहलाये और बदरी-वन में तपस्या करने के कारण उनकी प्रसिद्धि बादरायण के नाम से हुई । वेद का व्यसन अर्थात् विभाजन करने के कारण लोगों ने उन्हें व्यास के नाम से पुकारा ।

व्यास शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है--विभाजन और विस्तार । तो, कृष्णद्वैपायन ने वेद को विभाजित भी किया और विस्तारित भी । महाभारत को पढ़ने पर मालूम पड़ता है कि तत्कालीन समाज में लोगों की आस्था धर्म और ईश्वर पर से उठती जा रही थी । वह भौतिकता के उत्कर्ष का युग था, जब विज्ञान के क्षेत्र में पर्याप्त उन्नति हो चुकी थी । अतएव स्वाभाविक रूप से लोगों की आस्था धर्म पर से हटती जा रही थी । यह बात दुर्योधन, दुःशासन आदि के चरित्र को देखने

से स्पष्ट हो जाती है। ऐसे समय भगवान् व्यास ने धर्म की पुनःप्रतिष्ठा के लिए आप्राण चेष्टा की। इस दिशा में उनका पहला कार्य हुआ—वेद का चार भागों में विभाजन। पहले वेद कतिपय परिवारों के पास परम्परा से सुरक्षित था। पर वेद का बृहत् भार उठाना एक ही परिवार के लिए बड़ा कष्टसाध्य व्यापार था। इसमें यह भी डर बना था कि यदि वह परिवार अचानक दुर्घटनाग्रस्त हो गया तो वेद की परम्परा ही लुप्त हो जाती। इसलिए व्यासदेव ने वेद को विभाजित किया और उसकी एक एक शाखा अपने एक एक शिष्य को दे दी। यह एक महत् कार्य था जिसको सम्पन्न करने के कारण वे व्यास कहलाये।

महर्षि व्यास एक अत्यन्त उदारचेता व्यक्ति थे। उनका हृदय निम्नवर्णों की दुर्दशा पर रोता था। वे शिक्षा के प्रसार को उस दुर्दशा को दूर करने का उपाय मानते थे। अतः उन्होंने महाभारत और पुराणों की रचना की ताकि शूद्र एवं अन्य निम्न वर्ण के लोग इन ग्रन्थों को पढ़कर अपने भीतर संस्कार उत्पन्न कर सकें। महर्षि व्यास वेद के अधिकार से शून्य जातियों में भी ज्ञान का प्रसार चाहते थे और उन जातियों के योग्य व्यक्तियों को समाज में उचित स्थान दिलाना चाहते थे। महाभारत की आख्यायिकाओं के माध्यम से उनकी यह महाप्राणता पग पग पर दृष्टिगोचर होती है। कौशिक ब्राह्मण का एक महिला से शिक्षा प्राप्त करना, फिर

उसी का धर्मव्याध नामक कसाई से उपदिष्ट होना, इसी प्रकार जाजलि ऋषि का तुलाधार वैश्य से उपदेश ग्रहण करना---ये सारे उदाहरण भगवान् व्यास की सीमामुक्त मानवता को प्रकट करते हैं। और तत्कालीन समाज में उनके इस सुप्रयास का फल भी विपुल रूप से प्रकट हुआ। सूत जाति के रोमहर्षण और उग्रश्रवा ने वह सम्मान अर्जित किया जो बड़े बड़े ब्राह्मणों को भी दुर्लभ था।

भारत में शास्त्रों में श्रुति और स्मृति ये दो प्रकार की परम्पराएँ हैं। श्रुति के अन्तर्गत वेद आते हैं और उस युग में वेदाध्ययन का अधिकार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन नामों से प्रसिद्ध द्विज-मात्र तक सीमित था। शूद्र और स्त्रियों को वेदाध्ययन के अधिकार से वंचित किया गया था। फिर, उपर्युक्त तीन वर्णों के द्विजों में जिसका नियत समय में या विधिपूर्वक उपनयन-संस्कार न हुआ हो, उसे भी वेदाध्ययन के अधिकार से च्युत कर दिया जाता था। इसका कारण यह बताया गया था कि यदि गूढ़ विद्या मन्द संस्कार-सम्पन्न व्यक्ति के पास पहुँचे तो विद्या के शिथिल हो जाने का भय बना रहता है। यदि मन्द जठराग्निवाला पुरुष पचाने में कठिन चीजों को खा ले, तो भले ही वे वस्तुएँ अपने गुण में बड़ी पौष्टिक हों पर उस व्यक्ति को तो अधिक हानि ही पहुँचायेंगी; इसी प्रकार यद्यपि वेद अत्यन्त उदात्त और उन्नयनकारी शिक्षा प्रदान

करते हैं, पर संस्कारहीन व्यक्ति के हाथ में पड़ने से उनमें विकृति पैदा हो जायगी। इस डर से तत्कालीन युग में अधिकारी और अनधिकारी का विवेचन किया गया और एक सामान्य नियम के तौर पर स्त्री और शूद्रादि को वेद-जैसे गम्भीर विज्ञान के अध्ययन से वंचित कर दिया गया।

इस नियम के और जो भी गुण रहे हों, पर इसका एक सबसे बड़ा दोष यह हुआ कि जनता का एक बहुत बड़ा समुदाय ज्ञान की प्राप्ति से वंचित हो गया। यह बात भगवान् व्यास के मन में हरदम खटकती रहती थी। वे सच्चे अर्थों में क्रान्तिकारी थे। वे समाज में क्रान्ति लाना चाहते थे। पर उनकी क्रान्ति का मार्ग विध्वंसात्मक नहीं था। उन्होंने समन्वय का, बीच का मार्ग निकाला। उन्होंने कहा—'ठीक है, तुम श्रुतियों को शूद्रों और स्त्रियों के हाथों में नहीं देना चाहते तो मत दो। मैं एक नये प्रकार का साहित्य रचूंगा। उसमें श्रुतियों का, वेदों का सारा सार आ जायगा और उसमें मैं वेदों में वर्णित गूढ़ तत्त्वों को सरल बनाकर उपस्थित करूँगा। इसे स्त्रियाँ, शूद्र सभी लोग पढ़ ले सकेंगे और इस प्रकार उनमें भी शिक्षा का प्रसार हो सकेगा।' इस उद्देश्य से प्रेरित हो भगवान् व्यास ने महाभारत की रचना की, क्योंकि वे गम्भीर ज्ञान को सरल बनाकर समस्त वर्गों में उसका अधिकाधिक प्रसार करना चाहते थे। तभी तो महाभारत में लिखा है—

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम् ॥

—अर्थात्, स्त्री, शूद्र और विधिपूर्वक उपनयन-संस्कार से शून्य द्विज लोग वेदों को पढ़-सुन नहीं सकते, इसलिए व्यास मुनि ने कृपा कर महाभारत की रचना की है।

इसी भावना से प्रेरित हो महामना वेदव्यास ने श्रीभगवान् की वाणी इस भगवद्गीता को भी स्मृति का रूप ही प्रदान किया जिससे उसका लाभ सर्वसामान्य जनता को मिल सके। यही कारण है कि गीता में जहाँ जहाँ उपनिषदों के श्लोक आये हैं, वहाँ व्यासजी ने उन श्लोकों को किंचित् परिवर्तित कर दिया है जिससे उनका श्रुति-रूप कायम न रह सके और वेद-अनधिकारी को भी उनका लाभ मिल सके। यह भगवान् व्यास का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य था, जिसकी भारतीय इतिहास में तुलना दुर्लभ है।

साहित्यिक क्षेत्र की भाँति, महर्षि व्यास सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में भी एक प्रमुख नेता थे। वे बड़े भारी संगठक थे। पुराणों से विदित होता है कि उनका एक मण्डल था। जहाँ कहीं धर्म और संस्कृति पर वे आघात सुनते, मण्डल सहित वहाँ पहुँच जाते और धर्म एवं संस्कृति की रक्षा के लिए प्रयत्न करते। प्राचीन ग्रन्थों से यह भी पता चलता है कि वे समय समय पर ईरान आदि सुदूर देशों को भी जाते थे और

पुनर्जन्म आदि के सिद्धान्त वहाँ के लोगों को समझाते थे।

पुराणों के माध्यम से उन्होंने तीर्थों, मन्दिरों और व्रत-उत्सवों का प्रचार-प्रसार किया। वे बड़े मनोवैज्ञानिक थे और समाज-मनोविज्ञान से विशेष रूप से परिचित थे। उन्होंने समाज को संगठित रखने के लिए वर्णगत अधिकारों का निषेध किया और धर्म के ऐसे अंगों पर जोर दिया जिनमें वर्ण और जाति का भेद किसी प्रकार की रुकावट न डाले, जिन पर मानव मात्र का समान रूप से अधिकार रहे। इसलिए उन्होंने पुराणों में भगवद्भक्ति, नाम-संकीर्तन, तीर्थ और व्रतोपवास आदि का ही विस्तृत संग्रह किया। यदि कहा जाय कि वर्तमान हिन्दू समाज में जो कुछ थोड़ा संगठन आज भी दिखायी देता है वह भगवान् व्यास की ही कृपा है तो यह अतिशयोक्ति न होगी।

राजनीति के क्षेत्र में भी उन्होंने उल्लेखनीय कार्य किये। महाभारत-काल में हस्तिनापुर में पुरुवंशियों का राज्य था। तत्कालीन जनपदों और गणराज्यों में वह सबसे प्रतिष्ठित राज्य माना जाता था। जब पुरुवश सन्तानहीन होने के कारण दुर्दशा को प्राप्त हुआ, तब वे ही सामने आये और अपने प्रभाव से राज्य की प्रतिष्ठा कायम रखी। उस समय जरासन्ध आदि राजागण संस्कृति के नाश के लिए कमर कसे हुए थे। वे लोग धर्मज्ञ व्यक्तियों का उत्पीड़न करते और धर्म की

जड़ों को काटने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते। भगवान् व्यास को इन लोगों की कुचेष्टाएँ गवारा न हुईं। उन्होंने उन नृपतियों का दमन करने की ठानी। वे युधिष्ठिर के पास गये और उन्हें राजसूय यज्ञ करने के लिए उत्साहित किया। उद्देश्य यह था कि दिग्विजय के द्वारा दुष्ट राजाओं को दबा दिया जाय। वे अपने इस संकल्प में सफल हुए। बाद में जब राज्य के लिए धृतराष्ट्र और पाण्डु के पुत्रों में युद्ध छिड़ गया तो वे धृतराष्ट्र के पास गये और उन्हें बहुत समझाया। उन्होंने दुर्योधन को भी समझाने की कोशिश की। पर जब उनके इन प्रयत्नों का कोई फल न निकला और जब उन्होंने देखा कि युद्ध तो अब अनिवार्य है, तो उन्होंने पाण्डवों को सहायता देने का निश्चय किया और उनके द्वारा दुर्योधन आदि को दण्ड देने की योजना बनायी। इसी उद्देश्य से प्रेरित हो वे पाण्डवों के पास गये जब वे लोग वनवासी थे। वहाँ जाकर अर्जुन को मंत्र का उपदेश दिया, तपस्या की विधि बतायी और उन्हें तपस्या के लिए हिमालय भेजा। और हम जानते ही हैं कि उसी से अर्जुन को अतुलनीय शक्ति प्राप्त हुई जिसके फलस्वरूप वे महाभारत के युद्ध में विजयी हुए।

भगवान् व्यास समन्वय के प्रतीक थे। तत्कालीन समाज में धार्मिक असहिष्णुता दिनोंदिन प्रबल होती जा रही थी। यह विराट् भारतीय समाज भिन्न भिन्न दर्शनों

और विभिन्न मतों के प्रचार के फलस्वरूप बहुत से छोटे छोटे दलों में विभक्त हो गया था और ये सारे समुदाय आपस में झगड़ा किया करते। इसी प्रकार कर्म, उपासना और ज्ञान के अनुयायी भी एक दूसरे की निन्दा करने में अपने पुरुषार्थ की सफलता मानते। ज्ञानियों की दृष्टि में उपासक और कर्मकाण्डी निम्न अधिकारी थे अतएव वे निन्दा के पात्र थे। उपासक कर्मकाण्डियों को अपने से छोटा मानते ओर कर्मकाण्डी ज्ञानियों को ढोंगी और पाखण्डी समझते। इस पन्थविद्वेष के कारण समाज में कलह का विष व्याप्त हो गया था। ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता के माध्यम से भगवान् वेदव्यास ने इस विष को सोखने का भरपूर प्रयास किया। उन्होंने अलग अलग राग अलापनेवालों को एक सूत्र में बांधने की कोशिश की। यह तो ऊपर कह ही चुके हैं कि वर्णविद्वेष के जहर को दूर करने के लिए उन्होंने महाभारत और पुराणों की रचना की।

इस प्रकार गीता के रचनाकार महर्षि व्यास का यह महनीय रूप देखने के उपरान्त अब थोड़ासा विचार हम महाभारत पर भी कर लें जिसका कि गीता एक अंश है। सबसे पहले यह देखें कि इसका नाम 'महाभारत' क्यों पड़ा ? उक्त ग्रन्थ के आदिपर्व (१।२७१-७४) में ही हमें इसका कारण दिखायी देता है—

एकश्चतुरो वेदा भारतं चैतदेकत:।
पुरा किल सुरैः सर्वैः समेत्य तुलया धृतम्॥

चतुर्भ्यः सरहस्येभ्यो वेदेभ्यो ह्यधिकं यदा ।
तदा प्रभृति लोकेऽस्मिन् महाभारतम् उच्यते ।।
महत्त्वे च गुरुत्वे च ध्रियमाणं यतोऽधिकम् ।
महत्त्वाद् भारवत्त्वाच्च महाभारतम् उच्यते ।।

——एक समय देवताओं ने इस भारत को और चारों वेदों को तराजू पर रखकर तौला, उस समय रहस्य-सहित सम्पूर्ण वेदों से जब यह भारत महान् सिद्ध हुआ, तो उसे महाभारत कहा जाने लगा । तुला पर रखने से यह महत्त्व और गुरुत्व दोनों में अधिक हो गया । अतः महान् और भारी होने के कारण यह 'महाभारत' कहलाता है ।

इस महाकाव्य की विषय-वस्तु के सम्बन्ध में स्वयं कवि के मुख से ही सुनिये। वे ब्रह्माजी को अपनी कृति के सम्बन्ध में बताते हुए कहते हैं (आदिपर्व १/८६, ८७,९१,९३)——

कृतं मयेदं भगवन् काव्यं परमपूजितम् ।
ब्रह्मन् वेदरहस्यं च यच्चान्यत् स्थापितं मया ।।
सांगोपनिषदां चैव वेदानां विस्तरक्रिया ।
इतिहासपुराणानाम् उन्मेषं निमिषं च यत् ।।
चातुर्वर्ण्यविधानं च पुराणानां च कृत्स्नशः ।
ग्रहनक्षत्रताराणां प्रमाणं च युगैः सह ।।
न्यायशिक्षाचिकित्सा च दानं पाशुपतं तथा ।
तीर्थानां चैव पुण्यानां देशानां चैव कीर्तनम् ।।
नदीनां पर्वतानां च वनानां सागरस्य च ।

——भगवन् ! मैंने यह परमपूजित काव्य लिखा है। ब्रह्मन् ! मैंने इसमें वेदों का रहस्य बतलाया है। वेदांग, उपनिषद् और वेदों का विस्तार किया है। इतिहास और पुराणों का विस्तृत वर्णन किया है। इसमें भूत, भविष्य और वर्तमान——तीनों कालों का वर्णन हुआ है। जरा, मृत्यु, भय, व्याधि आदि भावों के अभाव का निश्चय किया गया है; इनके मिथ्यात्व का प्रतिपादन हुआ है। तीन प्रकार के धर्म और आश्रमों का लक्षण बताया गया है। चारों वर्णों की उत्पत्ति तथा तप और ब्रह्मचर्य की विधि बतायी गयी है। ग्रह, नक्षत्र, तारों तथा युगों का प्रमाण, न्यायशिक्षा, चिकित्सा, दान, अन्तर्यामी का स्वरूप तथा दिव्य लोकों में जन्म और मानव-जन्म के कारण आदि का प्रतिपादन किया गया है। इसमें तीर्थ, नदी, पर्वत, वन, समुद्र और दिव्य नगरों का वर्णन है। दुर्ग, सेना और व्यूहरचना की विधियाँ तथा युद्ध की चतुराई बतलायी गयी है। नाना प्रकार की जातियों का वर्णन है तथा उनके बोलने-चालने के ढंग बताये गये हैं। इसमें नीतिशास्त्र का वर्णन किया गया है तथा जो सर्वव्यापी परब्रह्मतत्त्व है उसका भी प्रतिपादन हुआ है।

भगवान् वेदव्यास की उपर्युक्त बातें केवल कवि-कल्पना नहीं हैं, बल्कि वास्तव में सत्य हैं। तत्कालीन विश्व में, जीवन के हर क्षेत्र में, जितनी भी बातों की कल्पना की जा सकती थी, उन समस्त बातों का समावेश

आपको महाभारत ग्रन्थ में मिलेगा। चाहे युद्धकौशल हो या तत्त्वचिन्तन, सभी का यथासम्भव विस्तार हमें उक्त महाकाव्य में मिलता है। धर्म और तत्त्वचिन्तन के क्षेत्र में हमें महाभारत में इतनी विचारधाराओं के दर्शन होते हैं कि अवाक् रह जाना पड़ता है। जिन दार्शनिक विचारों को हम बौद्ध दर्शन के अन्तर्गत मानते हैं, वे महाभारत में बुद्ध के आविर्भाव के २५०० वर्ष पहले लिपिबद्ध किये गये दिखायी देते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वेदव्यास मन में उठनेवाली सभी प्रकार की विचार-तरंगों को पकड़ने में सक्षम हैं। साथ ही, वे यह भी अनुमान लगा सकते हैं कि भविष्य में और कैसे कैसे वैचारिक स्पन्दन उठ सकते हैं। आज जिन्हें हम अज्ञेयवाद (Agnosticism), अनीश्वरवाद (Atheism), यथार्थवाद (Realism), क्षणभंगुरवाद (Existentialism) आदि के नाम से पुकारते हैं, वे सब हमें महाभारत में वर्णित दिखायी देते हैं, मानो कवि के द्वारा इन सब तत्त्वों की पूर्वकल्पना कर ली गयी हो। उन कर्म-सिद्धान्तों की भी वहाँ चर्चा पायी जाती है जिनकी बाद में जैन-धर्म के सिद्धान्तों के रूप से प्रसिद्धि हुई। और वहाँ ये सब भिन्न भिन्न पन्थ मिलकर आपस में लड़ाई नहीं करते, बल्कि हमें अनेकता में एकता के दर्शन होते हैं। यह महाकवि की खूबी है। उन्होंने सब में समन्वय का सूत्र पिरोने का प्रयास किया है। वे मानो मधुमक्खी हैं, जो विभिन्न वर्णों और जातियों के पुष्पों

से रस लाकर समन्वयरूपी मधु-रस में सबका परिपाक करते हैं।

इस प्रकार महाभारत मानो एक विश्वकोष (Encyclopaedia) है। यदि आप जानना चाहें कि आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व विश्व में कौन कौनसी धार्मिक आस्थाएँ प्रचलित थीं और कौन कौन से धर्म-सम्प्रदाय विद्यमान थे, तो महाभारत को देख लीजिए। यदि आप जानना चाहें कि तत्कालीन युग में कौन कौनसी नदियाँ थीं, किन किन नदियों से व्यापार-वाणिज्य होता था, कौन कौन से प्रमुख राज्य और नगर थे तथा विभिन्न नगरों को जोड़नेवाले कौन कौन से रास्ते और मार्ग थे, तो महाभारत को खोल लीजिए। यदि आपकी रुचि युद्ध कला में है और आप युद्ध-कला का सविस्तार वर्णन प्राप्त करना चाहें, यह जानना चाहें कि लोग गदाओं और धनुषबाण से, मुष्टि-प्रहार और खड्ग से किस प्रकार लड़ते थे, यह जानना चाहें कि तब कितने प्रकार के प्रक्षेपास्त्र, जिन्हें हम आधुनिक विज्ञान की भाषा में मिसाइल्स कहते हैं, विद्यमान थे और इन प्रक्षेपास्त्रों के-- वारुणेयास्त्र, आग्नेयास्त्र, ब्रह्मास्त्र, पाशुपतास्त्र आदि के क्या क्या गुणधर्म थे, तो आप महाभारत खोलकर बैठ जाइए। आपको उसमें सब कुछ मिल जायगा।

फिर, यदि आप साहित्य की दृष्टि से इस महाकाव्य को देखें, तो आपको विदित होगा कि ऐसा कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं है जो महाभारत के पासंग में आ सके। कवि

ने मानव-मन में उठनेवाले सभी प्रकार के भावों का ऐसा कुशल चित्रण किया है कि दंग रह जाना पड़ता है। घटनाएँ पाँच हजार वर्ष के बाद भी आज आँखों के सामने झूलने लगती हैं। कवि सभी रसों की अभिव्यंजना करने में पारंगत हैं। कोई लेखक रौद्र रस को अभिव्यंजित करने में सिद्धहस्त होता है तो वह करुणरस या हास्यरस या शान्तरस की समुचित अभिव्यंजना नहीं कर पाता। पर यहाँ तो महाकवि वीर, शृंगार, करुण, रौद्र, अद्भुत, भयानक, बीभत्स और शान्त इन सभी रसों की ऐसी कुशलतापूर्वक अभिव्यंजना करते हैं कि उनके मानव होने में सन्देह होने लगता है।

और चरित्र-चित्रण की खूबी को भी तो देखिए! महाभारत में सैकड़ों चरित्र हैं! और इन समस्त चरित्रों के वैशिष्टच की रक्षा करते हुए महाकवि की काव्य-धारा बहती है। साहित्य के क्षेत्र में हम उसे बड़ा लेखक मानते हैं जो अपने किसी उपन्यास में सात-आठ पात्रों का चरित्र-चित्रण कुशलतापूर्वक कर लेता है। पर यहाँ तो, जैसा हमने कहा, सैकड़ों चरित्र हैं और प्रत्येक चित्रण अत्यन्त सूक्ष्मतापूर्वक किया गया है। इससे लगता है कि महाभारत का लेखक एक जबरदस्त मनोवैज्ञानिक रहा होगा, जिसे मानव-स्वभाव का सम्यक् ज्ञान था और जो सब प्रकार के मानव-चरित्रों से परिचित था। वह मानव-मन की सारी खूबियों और कमजोरियों को जानता रहा होगा। तभी तो महाभारत का प्रत्येक

चरित्र मौलिक है, उसका अपना अलग व्यक्तित्व है, वैशिष्ट्य है।

तो, महाभारत को हमने 'विश्वकोष' कहकर पुकारा है। स्वय महाकाव ही अपने महाकाव्य के विश्वकोषत्व को अभिव्यजित करते हुए कहते हैं ––

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ ।।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् ।।

––हे भरतश्रेष्ठ! धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के क्षेत्रों में जो बातें इसमें हैं वे ही अन्यत्र भी प्राप्त होंगी और जो इसमें नहीं है वे बाहर भी कहीं नहीं मिलेंगी।

कितनी विश्वासपूर्ण घोषणा है महाकवि की! संसार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार क्षेत्रों में ही बँटा है। इससे भिन्न और कोई संसार नहीं। और महाकवि विश्वासपूर्वक कहते हैं कि जो कुछ इस संसार में है उस सबकी जानकारी महाभारत में उपलब्ध है। वे प्रतिज्ञा-पूर्वक कहते हैं, "जो कुछ भी इस विश्व में जानने योग्य है वह सब मैंने इस महाभारत में संगृहीत किया है।" साथ ही वे यह भी घोषित करते हैं कि महाभारत ही पृथ्वी की समस्त कथाओं का स्रोत है––

"अनाश्रित्य एतदाख्यानं कथा भुवि न विद्यते।"
(आदिपर्व, २।३८८)

"इदं कविवरैः सर्वैः आख्यानं उपजीव्यते।"
(आदिपर्व, २।३८९)

इसीलिए हमने महाभारत को विश्वकोष का नाम

दिया, क्योंकि वह काव्य है, इतिहास है, धर्मग्रन्थ है और सर्वशास्त्रसंग्रह भी है। अपरा और परा दोनों विद्याएँ अपने पूरे विस्तार के साथ इसमें विश्लेषित और संयोजित हुई हैं। अन्य विश्वकोषों से महाभारत-रूपी यह विश्वकोष एक बात में सर्वथा भिन्न है। वह यह कि जहाँ अन्य विश्वकोष नीरस हैं, यह विश्वकोष रस ही रस से भरा है। 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' नीरस है, उसे आदि से अन्त तक पढ़ने का धैर्य किसी में नहीं है, वह मृत है, पर महाभारत जीवित संग्रहग्रन्थ है। उसे जीवित, रसमय सर्वशास्त्रसंग्रह ग्रन्थ बनाने के लिए भगवान् व्यास ने भारतराष्ट्र की माननीय वीर विभूतियों का जीवन-चरित्र बुनियाद के रूप में लिया है और इस चरित्र के आधार पर ऐसी युक्ति से अन्यान्य शास्त्रों का उसमें समावेश किया है कि वे बड़े ही सुन्दर ढंग से सज गये हैं, मानो सुवर्ण के गहने में यथास्थान रत्न जड़े हों। काव्यपूर्ण रसमयी एनसाइक्लोपीडिया के साथ इतिहास को भी सम्मिलित कर देना भगवान् वेदव्यास के अद्‍भुत सम्पादन-कौशल का ही साक्षी है।

(क्रमशः)

•

समर्थ रामदास

लक्ष्मीनारायण इन्दूरिया

'मन ! सत्य का त्याग किसी भी स्थिति में मत करो, असत्य का पक्ष मत लो। वाणी से वही बोलो जो सत्य है; असत्य को असत्य समझकर उसका परित्याग करो।'

—मनाचे श्लोक

किसी भी राष्ट्र या जाति का नवजागरण उसके धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलनों के सम्मिलित प्रभावों का परिणाम होता है। सत्रहवीं शताब्दी में मराठों का आश्चर्यजनक उत्कर्ष भी इन्हीं आन्दोलनों का परिणाम था। चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी में क्रमश: सन्त नामदेव और एकनाथ महाराज ने धार्मिक और सामाजिक आन्दोलनों द्वारा महाराष्ट्र के जन-जीवन को झकझोरकर उसकी जड़ता दूर कर दी। सत्रहवीं शताब्दी में इस कार्य को समर्थ गुरु रामदास और सन्त तुकाराम ने अपने हाथों में लिया। सन्त तुकाराम ने महाराष्ट्र को वैष्णव-भक्ति के रस में डुबोकर और समर्थ रामदास ने धर्म, जाति और भाषा की एकता के आधार पर मराठों का सगठन कर उन्हें जागृत किया था। इसी समय शिवाजी ने समर्थ रामदास का आशीर्वाद प्राप्त कर स्वतंत्र मराठा साम्राज्य स्थापित किया और छत्रपति शिवाजी के नाम से वे भारतीय इतिहास में अमर हो गये।

चरितनायक का जन्म सातारा जिला के जाम्ब नामक गाँव के एक ब्राह्मण-परिवार में विक्रम सम्वत् १६६५ चैत्र रामनवमी (सन् १६०८ ई०) को दोपहर के समय हुआ था। बालक का नाम नारायण रखा गया। पिता सूर्याजीपन्त ठोसर गोदावरी-तट पर स्थित किसी गाँव के पटवारी अथवा मुखिया थे। वे भगवान् सूर्य के उपासक थे और माता रेणुबाई भी धर्म में अत्यधिक रुचि रखनेवाली सती-साध्वी महिला थीं।

एक बार माता-पिता बालक नारायण को महात्मा एकनाथजी के दर्शन कराने पैठण ले गये। बालक को देखते ही एकनाथजी ने कहा कि बालक ने भक्त-शिरोमणि श्री हनुमानजी के अंश से जन्म लिया है।

जब बालक नारायण चार-पाँच-वर्ष के थे, पिता की मृत्यु हो गयी। माता ने उनकी शिक्षा-दीक्षा पर विशेष ध्यान दिया। माता की कृपा से नारायण में सद्गुणों की वृद्धि होने लगी। हनुमानजी के प्रति उनके मन में सहज अनुराग था। एक दिन वे गाँव के मन्दिर में हनुमानजी के चरण पकड़कर बैठ गये, यह दृढ़ निश्चय लेकर कि जब तक हनुमानजी दर्शन नहीं देंगे, वे कुछ भी ग्रहण नहीं करेंगे। कहते हैं, हनुमानजी ने उनको निष्ठा से प्रसन्न होकर दर्शन दिया और पूछा, "बेटा! तेरी क्या इच्छा है?" नारायण ने उत्तर दिया, "प्रभो! आपके श्रीचरणों में सदा भक्तिभाव बना रहे।" यह सुनकर हनुमानजी ने मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान्

श्रीराम का ध्यान किया । श्रीभगवान् प्रकट हुए और बालक नारायण को उपदेश देकर अन्तर्धान हो गये । यह माना जाता है कि भगवान् रामचन्द्र ने ही बालक नारायण का नाम रामदास रखा और वे इस घटना के बाद से रामदास कहे जाने लगे ।

अब तो रामदास की भक्ति दिनों-दिन बढ़ती चली और संसार के प्रति वे उदासीन रहने लगे । उनके वैराग्य से माता चिन्तित हुईं और उन्होंने रामदास को विवाह के बन्धन में बाँधने का निश्चय किया । रामदास को वैवाहिक जीवन से रुचि नहीं थी । एक दिन तो विवाह की चर्चा छिड़ते ही वे घर से भाग निकले और कुछ दिनों तक बाहर छिपे रहे । आखिर माता के बहुत कहने-सुनने पर उनका हठ रखने के लिए उन्होंने विवाह करना स्वीकार कर लिया । आसन नामक गाँव में उनका विवाह निश्चित हुआ । रामदास सजकर मण्डप में बैठे थे । ब्राह्मणों ने वर-वधू के बीच अन्तरपट वाला विधान सम्पन्न करना चाहा । उसके समाप्त होते ही पण्डितों ने कहा—'शिवमंगल सावधान!' रामदास के अन्तश्चक्षु खुल गये । वे सावधान हो गये और उसीस मय विवाह-मण्डप से भाग खड़े हुए । उस समय उनकी उम्र बारह वर्ष की थी ।

इस घटना के बाद से उन्होंने तपस्या का जीवन प्रारम्भ किया । वे गोदावरी-तट पर स्थित पंचवटी गये और वहाँ टाकली नामक गाँव के निकट एक गुफा

में रहने लगे। वहाँ तीन साल तक कठोर तपश्चर्या के पश्चात् एक दिन जब वे गोदावरी के तट पर खड़े हो अनुष्ठान कर रहे थे, तो एक युवती को अपनी ओर आते देखा। उसके प्रणाम करने पर सन्त ने 'पुत्रवती भव' कहकर उसे आशीर्वाद दिया। स्त्री चौंक उठी। उसने कहा, "महाराज! मैं तो विधवा हो गयी हूँ, और अपने पति के शव के साथ सती होने जा रही हूँ। कुल-परम्परा के अनुसार चिता में चढ़ने के पहले आपसे आशीर्वाद लेने आयी थी।" सन्त को अपनी भूल मालूम हुई। किन्तु अब हो ही क्या सकता था! उन्होंने भगवान् राम का स्मरण कर उसके पति का मृत-शरीर मँगवाया और उसके मुख में गोदावरी का पवित्र जल डालकर उसे जीवित कर दिया। भगवान् की कृपा से कालान्तर में उस स्त्री के गर्भ से एक पुत्र उत्पन्न हुआ। स्त्री ने अपने इस प्रथम पुत्र को सन्त की सेवा में अर्पित कर दिया। यही बालक भविष्य में उद्धव गोस्वामी के नाम से प्रसिद्ध हुआ जो रामदास के प्रधान शिष्य माने गये। सन्त ने टाकली में कुल मिलाकर बारह वर्ष तपश्चर्या में व्यतीत किये, उसके बाद भगवान् श्रीराम के आदेश से वे तीर्थयात्रा और धर्मप्रचार के लिये निकल पड़े।

तीर्थ-स्थानों की यात्रा करते हुए रामदास ने देखा कि हिन्दू समाज अत्यन्त दयनीय दशा में है। उन्होंने निश्चय किया कि वे अपना सम्पूर्ण जीवन तत्कालीन

हिन्दू समाज को जागृत करने मे लगा देंगे । इस संग्राम में उतरने के पूर्व उन्होंने अपनी माँ के दर्शन कर उनका आशीर्वाद प्राप्त करना उचित समझा । तब रामदास की अवस्था छत्तीस वर्ष की हो चुकी थी । माता पुत्र के वियोग में रो-रोकर अन्धी हो गयी थीं । रामदास अपने गाँव आये और उन्होंने माता के चरण छूकर प्रणाम किया । चौबीस वर्ष पश्चात् माँ-बेटे का यह अभूतपूर्व मिलन था । माँ अपने हृदय के टुकड़े को देखने के लिये छटपटा उठी । सन्त ने माता की आँखों पर हाथ फेरा और नेत्रों की ज्योति लौट आयी । माँ ने जी भर अपने वैरागी पुत्र को देखा और उसे आशीर्वाद दिया । माता के आग्रह पर रामदास कुछ दिन घर पर ठहर गये ।

कुछ समय पश्चात् चाफल को उन्होंने अपना निवासस्थान बनाया और अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिये निकल पड़े । उन्होंने धर्म के प्रति हिन्दुओं में आस्था उत्पन्न करना और हिन्दुओं की सामाजिक-राजनीतिक दशा को सुधारने का कार्य प्रारम्भ किया । उन्होंने सम्पूर्ण महाराष्ट्र में घूम-घूमकर मठों और आश्रमों की स्थापना की । उनके द्वारा स्थापित मठ और आश्रम धर्म और राजनीति के प्रेरणा-केन्द्र बन गये । इससे स्पष्ट है कि सन्त ने धर्म और राजनीति को एक साथ मिलाकर महाराष्ट्र को ही नहीं वरन् सम्पूर्ण हिन्दू-समाज को तत्कालीन धर्मान्धता से मुक्त

होने का एक नया सन्देश दिया था।

सन्त रामदास और छत्रपति शिवाजी का मिलन तत्कालीन भारतीय इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। सन्त ने शिवाजी की विशेष श्रद्धा देख उन्हें शिष्य के रूप में स्वीकार किया था। एक दिन शिवाजी ने एक पत्र लिखकर गुरु की झोली में डाल दिया। पत्र में लिखा था कि आज से मेरा समस्त राज्य गुरुदेव का है। गुरु ने शिष्य को समझाया कि राजकार्य करना तुम्हारा धर्म है। शिवाजी ने सिंहासन पर गुरुदेव की चरणपादुका रख कार्य करना प्रारम्भ किया और इस प्रकार धर्मराज्य की स्थापना हुई। उन्होंने गुरु के प्रति आदर दिखाने के लिये ध्वजा का रंग भगवा कर दिया। गेरुआ झंडा उसी दिन से हिन्दू-धर्म का प्रतीक बन गया। गुरु ने शिवाजी को हिन्दू धर्म और संस्कृति की रक्षा का निर्देश दिया, जिसका शिष्य ने मृत्युपर्यन्त पालन किया।

सन्त समर्थ ने जनता को आत्मबोध प्रदान किया कि स्वराज्य का वास्तविक रूप क्या है, और उसके अनुसार राष्ट्र का जीवन कैसा होना चाहिये। वे अच्छी तरह समझते थे कि 'स्व' पर राज्य करने के लिये सात्त्विकता और धर्माचरण की बड़ी आवश्यकता है। ईश्वर पर सन्त की अपूर्व निष्ठा थी, उनकी शक्ति के सामने वे जगत् का मस्तक नत देखना चाहते थे। एक दिन सज्जनगढ़ का किला बनवाते समय शिवाजी

को अपनी शक्ति पर बड़ा अभिमान हुआ। उन्होंने सोचा कि मेरे द्वारा प्रतिदिन सहस्रों मनुष्यों का भरण-पोषण होता है। दैवयोग से इसी समय रामदास महाराज आ पहुँचे। उन्होंने एक मजदूर को एक पत्थर का टुकड़ा तोड़ने का आदेश दिया। उसके भीतर एक छोटा सा मेढक और थोड़ासा पानी था! घटना के मर्म को समझकर शिवाजी लज्जित हुए और गुरुदेव के चरणों पर गिरकर क्षमायाचना की।

इसी प्रकार 'मनाचे श्लोक' की रचना के सम्बन्ध में एक घटना है। सन्त रामदास चाफल-निवासकाल में प्रत्येक वर्ष रामनवमी का उत्सव धूमधाम से मनाया करते थे। शिष्यगण भिक्षा माँगकर उत्सव की सामग्री का प्रबन्ध किया करते। शिवाजी महाराज ने बाद में उत्सव के लिये अपनी ओर से सामग्री भेजना आरम्भ किया। एक साल उनकी ओर से किन्हीं कारणवश सामग्री समय पर न आ सकी। उत्सव को कुछ ही दिन शेष रह गये थे। शिष्यों ने आग्रह किया कि शिवाजी के पास पत्र लिखकर सामग्री मँगा ली जाय। महाराज ने प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। उनका दृढ़ विश्वास था कि श्रीभगवान् सर्व समर्थ हैं, वे सामग्री की व्यवस्था कर ही देंगे। महाराज ने रात को अपने एक शिष्य कल्याण स्वामी को अपने पास बैठाकर दो सौ पाँच श्लोक लिखा दिये और तप करने चले गये। इधर कल्याण स्वामी की प्रेरणा से महाराज के शिष्यों ने

घर-घर घूमकर उन श्लोकों का गान किया। भिक्षा में उन्हें अमित सामग्री प्राप्त हुई और उत्सव महाराज के आने पर विधिपूर्वक सम्पन्न हुआ। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि सन्त की वाणी में जो शक्ति है, उसके सामने राजा की शक्ति फीकी है। इस प्रकार 'मनाचे श्लोक' की रचना कर रामदास महाराज ने अपनी भगवन्निष्ठा की सत्यता प्रमाणित कर दी।

सन्त ने दासबोध, मनाचे श्लोक, रामायण, आत्माराम आदि ग्रन्थों की रचना की। उनका सारा जीवन हिन्दू धर्म और संस्कृति को प्राणवन्त बनाने में लगा रहा। वे वैराग्य और ईश्वर-समर्पण के जीवन्त प्रतीक थे। सम्वत् १७३९ विक्रम की माघ कृष्ण नवमी (सन् १६८२ ई०) को श्रीभगवान् ने उन्हें अपने पास बुला लिया। शिष्यों ने उनके आदेशानुसार उनका दाह-संस्कार किया और सज्जनगढ़ में ही उनकी समाधि बनायी गयी। जिस कमरे में वे रहते थे, वह आज भी ज्यों-का-त्यों सुरक्षित है और भारतीय समाज को उन्नति के पथ पर बढ़ने के लिये मौन निर्देश दे रहा है।

●

सेवा की उलझन

डा. प्रणवकुमार बनर्जी

बात बहुत मामूली सी थी। फिर भी आखिरकार उस दिन शराब और दूध में झगड़ा हो ही गया।

शराब के अंग अंग में नशा था--सुबह जगकर जैसे ही उसने घर घर बांटे जाते हुए दूध का दर्शन किया, तुनक पड़ा। बोला, "दूध, तुम्हें अपनी उद्दण्डता पर दुख होना चाहिए। लोग मुझे प्राप्त करने गद्दी पर आते हैं जबकि तुम्हें घर घर जाना पड़ता है। तुम्हें मेरा प्रतिदिन अभिवादन करना चाहिए।"

बेचारा दूध छल-कपट से शून्य, बेदाग और सफेद था। शराब के उठाये झगड़े से चिन्तित हो पड़ा। बोला, "भई, अगर तुम्हें मेरा अभिवादन ही चाहिए तो मैं तुम्हारे आगे नतमस्तक हूँ। प्रतिदिन अभिवादन किया करूँगा।"

शराब ने सन्तुष्ट होकर कहा, "मुझे खुशी है कि तुमने अपनी स्थिति को स्पष्टता से स्वीकार कर लिया। बड़ों को चाहिए कि छोटों की मदद करें। तुम्हें किसी भी प्रकार की दिक्कत हो, तो बतलाया करना। मैं तत्परता से तुम्हारी सहायता करूँगा।"

"धन्यवाद!"--दूध ने कहा और चला आया। पर

उसके दिन-रात की चैन खत्म हो गयी। वह सोचने लगा कि मैं मनुष्यों को अपने माध्यम से शरीर-धारण की सभी वस्तुएँ दिया करता हूँ। मुझे पूर्ण खाद्य कहकर मनुष्यों ने सम्मान प्रदान किया है। लेकिन यह क्यों कि मुझे लोगों के दरवाजे दरवाजे जाना पड़ता है? क्या मनुष्यों ने मुझे सम्मान देकर बेवकूफ बना लिया है?

एक दिन एक गृहस्थ ने दूध की चिन्तातुरता देख दूध से उसकी चिन्ताओं का कारण पूछा। दूध ने अपने भोलेपन के साथ सारी बातें बतला दीं। गृहस्थ थोड़ी देर तक चुप रहा। फिर बोला, "इसमें चिन्ता क्यों? अपने को बगैर झुकाये बहुजनहिताय कोई कार्य नहीं हो सकता। तुम बहुजन-सेवा में घर घर पहुँचते हो। तुममें अहंकार नहीं है। अहंकार को तुमने सेवा-भाव से जीत लिया है। इसलिए तुम दूध हो। शराब में ये गुण नहीं। उसमें केवल अहंकार का नशा है। इसलिए वह शराब या मद है। तुम्हें पीकर लोग स्वस्थ होते हैं--शराब पीकर अस्वस्थ।"

और दूध के सिर का बोझ उतर गया! उस दिन से वह बेपरवाह हो गया, और तब से सार्वजनिक सेवा से वह कभी नहीं थकता।

●

राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण

ब्रम्हचारी निर्गुण चैतन्य

पिछले कुछ वर्षों से सर्वत्र समालोचनाओं की बाढ़-सी आ गयी है और इसके फलस्वरूप दोषों की वृद्धि होती जा रही है। राष्ट्र की वर्तमान दशा को देखकर लोग प्रायः भयभीत हो गये हैं। किन्तु केवल दोषों की समालोचना करने मात्र से दोष दूर नहीं होते। स्वामी विवेकानन्दजी का कथन याद आता है। 'अँधेरा-अँधेरा' कहने से अँधेरा दूर नहीं होता। अँधेरा दूर होता है प्रकाश लाने से। इसी प्रकार 'दोष-दोष' चिल्लाने से दोष दूर नहीं होते। दोष तो दूर होते हैं गुणों का विकास करने से। अब समालोचनाएँ बहुत हो चुकी हैं, अब तो प्राणों पर आ बनी है। अब कुछ रचनात्मक कार्य करने की आवश्यकता है। अब और लेटे लेटे बातें बनाने से न होगा, क्योंकि युगाचार्य की वाणी गूँज रही है--

"उत्तिष्ठत ! जाग्रत ! प्राप्य वरान्निबोधत"--'उठो ! जागो ! और लक्ष्य के प्राप्त होते तक रुको मत !'

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं-- यह राष्ट्र मानो एक नाव है जिसमें दोष रूपी छेद हो गया है। अब हमारा कर्तव्य इस छेद की आलोचना करना मात्र नहीं है। उठकर सबसे पहले इस छेद को बन्द करना होगा, नहीं तो नाव डूब जायेगी। इसलिये भारतवासियो !

यदि अपने राष्ट्र की उन्नति चाहते हो तो आलोचना बन्द करो और कार्य में जुट जाओ।

एक समय था जब भारत सभी क्षेत्रों में विश्व के अन्य राष्ट्रों से बहुत आगे था। जब पश्चिमी अंचल में सभ्यता का श्रीगणेश भी नहीं हुआ था, भारत में वेद की वाणी गूंज रही थी। प्राचीन काल में ही भारत ने उस सत्य की खोज कर ली थी जिसकी ओर अन्य देशों ने अब कदम उठाना आरम्भ किया है। विज्ञान, कला, संगीत, अर्थ-विज्ञान, चिकित्सा-विज्ञान सभी क्षेत्रों में इसने निपुणता प्राप्त कर ली थी। इस देश को 'सोने की चिड़िया' कहा जाता था, यहाँ दूध की नदियाँ बहती थीं। परन्तु इस सबसे इस राष्ट्र को शान्ति न मिली। तब हमारे ऋषि बाह्य अन्वेषण छोड़कर अन्तर्मुखी बने और भीतर शान्ति की खोज की। और उन्हें शान्ति मिली भी। तब आनन्द से ऋषि झूम उठे और निजानुभूत परम शान्ति का मार्ग विश्व भर के सामने रखते हुए उद्घोषित कर उठे--

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥

--"मैंने उस अनन्त महान् पुरुष को जान लिया है जो सब अन्धकार और अज्ञान से परे है; केवल उसको जानकर ही हम मृत्यु से पार हो सकते हैं। अमृतत्व की प्राप्ति का अन्य कोई भी मार्ग नहीं है।"

जीवन में स्थायी शान्ति एवं अनन्त आनन्द पाने

का मार्ग सर्वप्रथम इसी भूमि पर प्रदर्शित हुआ था। इन अमृतपुत्रों ने भौतिक सुख-सम्पत्ति के साथ साथ आध्यात्मिकता के चरम लक्ष्य को प्राप्त कर भारत को देवदुर्लभ बना रखा था। किन्तु वह समय भी आया जब अमृतपुत्रगण पशुवत् अपमानित हुए। प्रकृति का नियम ही कुछ ऐसा है कि उन्नति और अवनति मानो लहरों का उत्थान और पतन है। मुगल साम्राज्य की स्थापना से एक या दो शताब्दी पूर्व ही विज्ञान, संगीत एवं कला आदि के क्षेत्र में अवनति प्रारम्भ हो गयी और राष्ट्र का भौतिक शरीर दुर्बल हो गया। दुर्बलता में रोगों का आक्रमण स्वाभाविक है; फलस्वरूप समाज में दोष आने लगे। फिर आये अंग्रेज, जिन्होंने अपनी राजनीति से न केवल हमारे देश को पराधीन कर दिया बल्कि यहाँ की धन-सम्पत्ति को इँग्लैंड पहुँचा दिया। और यहाँ छोड़ दी दरिद्रता, दीनता और पराधीनता। इतना ही नहीं, पाश्चात्य जड़वाद ने हमारी शिक्षा का मुख भी मोड़ दिया और हम भोग-लालसा में फँसकर आत्मश्रद्धाहीन हो उसका अनुसरण करने लगे।

लगभग एक हजार वर्षों की पराधीनता, विदेशी आक्रमणों एवं अत्याचारों से शोषित यह भारत तूफानी खतरों से जूझते जूझते मृतप्राय हो गया। परन्तु फिर भी भारत मरा नहीं; वह जीवित है। जिस शक्ति ने इसके प्राणों को अभी तक रोक रखा है, वह है धर्म,

जिसे स्वामी विवेकानन्द ने भारत का प्राणकेन्द्र कहा है।

प्रत्येक व्यक्ति या राष्ट्र का एक प्राणकेन्द्र होता है जिसके बिना उसका जीवन समाप्त हो जाता है। जैसे अग्नि से यदि उसकी दाहिकाशक्ति पृथक् कर दी जाय तो उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार यदि किसी व्यक्ति या राष्ट्र का यह प्राणकेन्द्र अलग कर दिया जाय तो वह व्यक्ति या राष्ट्र नष्ट हो जाता है। उस प्राणकेन्द्र को सबल करने से व्यक्ति या राष्ट्र का जीवन सुगठित होता है, चरित्र का निर्माण होता है और उस के ह्रास से राष्ट्र ही नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। इसीलिये स्वामी विवेकानन्दजी ने चेतावनी दी थी, "जिस दिन भारतवासी धर्म की शिक्षा के लिये पाश्चात्यों के कदमों पर चलेंगे, उस दिन इस अधःपतित ज़ाति का अस्तित्व सदा के लिये नष्ट हो जायेगा।" भारत का अस्तित्व उसकी आध्यात्मिकता है। यही उसका मेरुदण्ड है और इसी के ऊपर राष्ट्र की उन्नति निर्भर करती है। इसी-लिये स्वामी विवेकानन्द ने कहा था, "भारत को सामा-जिक अथवा राजनैतिक विचारों से प्लावित करने के पहले आवश्यकता है कि उसमें आध्यात्मिक विचार भर दिये जायँ।"

आध्यात्मिकता से हमारा तात्पर्य हिन्दू, ईसाई, इस्लाम या अन्य किसी धर्म से नहीं है। विश्व में व्याप्त सनातन सत्य की अनुभूति करना ही आध्यात्मिकता है। वह सत्य क्या है? प्रत्येक प्राणी में दिव्यता अव्यक्त

रूप से निहित है। इस अन्तर्निहित दिव्यता की अभिव्यक्ति ही सत्य का दर्शन है। यही जीवन का उद्देश्य है। यह सत्य ही सब धर्मों का आराध्य देवता है। उसी को लोग 'ईश्वर', 'गॉड' या 'अल्ला' के नाम से पुकारते हैं। "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति"--'सत्य एक है, ज्ञानीजन उसे विभिन्न नामों से पुकारते हैं'। इस सत्य की प्राप्ति में सहायक आचरण ही हमारे राष्ट्रीय चरित्र को उन्नत करने का एकमात्र मार्ग है।

चार्वाकों ने इस सत्य के विरुद्ध आवाज उठायी। उन्होंने प्रचार किया, "यावत् जीवेत् सुखं जीवेत्। ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।"--"जब तक जियो सुख से जियो। उधार लेकर भी घी पियो (अर्थात् खाओ, पियो और मौज करो); क्योंकि देह के भस्मीभूत हो जाने पर वह फिर से आनेवाली नहीं है।" परन्तु आध्यात्मिकता का प्रवाह वे न रोक सके। बौद्ध धर्म ने अनीश्वरवाद का प्रचार किया परन्तु ईश्वर की आस्था भारत से लुप्त न हुई। मुगलों ने अत्याचारपूर्वक मन्दिर और मूर्तियाँ तोड़ीं परन्तु घट-घट-व्यापी ब्रह्म की सत्ता भारत से न गयी। ईसाई-मिशनरियों ने भारत के धर्म और संस्कृति को कलंकित करने की चेष्टा की परन्तु उन्हें भी सफलता न मिली। भारत जब इन सब आक्रमणों का सामना कर बचा रह सका है तब आज का संकट उसके अस्तित्व को कैसे खत्म कर सकता है? आज का घटाटोप अन्धकार उसके

प्राणकेन्द्र को नष्ट नहीं कर सकता, उसकी आध्यात्मिकता को निःस्पन्द नहीं बना सकता। देश को उठाने के लिये इस आध्यात्मिकता को ही पुनः बली बनाना होगा।

यद्यपि भारत के बच्चे-बच्चे के मुख पर आप सुन पायेंगे कि प्रत्येक आत्मा एक अखण्ड सच्चिदानन्द ब्रह्म की अभिव्यक्ति है और प्रत्येक मानव सच्चिदानन्दस्वरूप है, किन्तु आचरण में न आने के कारण ही हमारे इस ज्ञान में, इस धर्म में, इस आदर्श में बल नहीं रहा। यह धर्म-ग्लानि ही राष्ट्रीय चरित्र के पतन का कारण रही है। इस भूल के कारण हमने मानव के मूल्य को तुच्छ समझ लिया, उसके असली गौरव और महिमा को हम भूल गये और इसी से वैषम्य की उत्पत्ति हुई। यह वैषम्य किस प्रकार हमें सभी क्षेत्रों में सालता रहा है यह विचारणीय है--

(१) **राजनैतिक वैषम्यः**— एक हजार वर्ष की पराधीनता ने हममें दासत्व का भाव ला दिया। अमृतपुत्रों ने श्रद्धाहीन हो चापलूसी और हीनता का आश्रय लिया। फलस्वरूप आज हम भयानक राजनैतिक कुण्ठा के शिकार हो गये हैं।

(२) **सामाजिक वैषम्यः**— शताब्दियों तक मानव ने मानव का, पण्डितों ने मूर्खों का, धनवानों ने दरिद्रों का, पुरुषों ने स्त्रियों का और उच्चवर्ण वालों ने निम्नजाति वालों का शोषण किया है। फलस्वरूप स्त्री-वर्ग दबकर निस्तेज हो गया और निम्नजाति के लोग सभी प्रकार

के सामाजिक अधिकारों से वंचित हो गये ।

(३) **आर्थिक वैषम्यः**— सामन्तों और लक्ष्मी-पुत्रों ने निर्धनवर्ग का जमकर शोषण किया । परिणाम यह हुआ कि जो निर्धन थे वे और भी निर्धन होते गये और एक दिन ऐसा आया जब वे मानवीय संवेदनाओं से भी शून्य हो गये ।

(४) **नैतिक वैषम्यः**— पाश्चात्य सभ्यता की चमक-दमक ने भारतवासियों के मन में निहित स्वार्थपरता और विषय-लोलुपता को जाग्रत् कर दिया । ईर्ष्या और वैर ने प्रेम और सद्भावना का स्थान ले लिया । सत्य और ईमानदारी का स्थान झूठ और छल-कपट ने ले लिया । राष्ट्र-प्रेम लुप्त हो गया और रह गयी केवल ध्वंस करने की प्रवृत्ति ।

(५) **धार्मिक वैषम्यः**— धर्मध्वजियों और पोंगा-पन्थियों के अत्याचार के फलस्वरूप लोगों की श्रद्धा धर्म पर से उठती गयी । बहुत लोगों ने पीड़ित हो अन्य धर्म ग्रहण कर लिये और अनेक लोग धर्म को व्यर्थ की बात मान भौतिकवादी बन गये ।

उपर्युक्त विषमताएँ राष्ट्र की सांस्कृतिक जड़ों को कुतर रही हैं और मनुष्य-मनुष्य में अलगाव की प्रवृत्तियों को बढ़ावा दे रही हैं । इसी कारण राष्ट्रीय चरित्र बिखर गया है । अतएव हमें एक ऐसा सूत्र ढूंढ़ना होगा जो सभी धर्मों के अनुयायियों को, सभी जातियों को, समस्त राष्ट्रवासियों को एकता में

गूंथ दे। और वह सूत्र भारत की आध्यात्मिकता ही हो सकती है।

यह आध्यात्मिकता मानव के दिव्य स्वरूप को प्रतिष्ठित करती है। इसका आख्यान हमारे शास्त्रों ने 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' आदि महावाक्यों से किया है। इसे पुनः सजीव करने के लिये ही श्रीरामकृष्ण ने 'शिव-ज्ञान से जीव-सेवा' का धर्म स्वामी विवेकानन्द को सिखाया। और स्वामीजी ने 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' का नारा लगाकर इसी परम सत्य को सक्रिय रूप दिया।

यदि हम जीव को शिव का रूप समझकर उसमें शिव के दर्शन करते हैं तो सब प्रकार की विषमता नष्ट हो सकती है। स्वामी विवेकानन्दजी कहते हैं, "जो शिव की सेवा करना चाहता है उसे सर्वप्रथम उनकी सन्तानों की--इस संसार के समस्त प्राणियों की सेवा करनी चाहिए। शास्त्रों में कहा है कि जो ईश्वर के सेवकों की सेवा करते हैं वे ईश्वर के सबसे बड़े सेवक हैं। निःस्वार्थता ही धर्म की कसौटी है। जिसमें इस निःस्वार्थता की मात्रा अधिक है वह अधिक आध्यात्मिक है और शिव के अधिक निकट है। पर यदि व्यक्ति स्वार्थी है तो भले ही फिर उसने समस्त मन्दिरों के दर्शन किये हों और सारे तीर्थों की यात्रा की हो, पर वह रंगा सियार ही है और शिव से बहुत दूर है।"

अतः भारत की इस सनातन आध्यात्मिकता के स्वरूप की वर्तमान सन्दर्भ में व्याख्या करते हुए वे पुनः कहते

हैं, "समस्त आध्यात्मिकता का सार है--शुचि-पवित्र होना और दूसरों का भला करना। जो शिव को निर्धन, निर्बल और रोगी में देखता है वही वास्तव में शिव की उपासना करता है। और यदि वह केवल मूर्ति में शिव को देखता है तो उसकी उपासना प्रारम्भिक मात्र है। जिसने जाति, धर्म या सम्प्रदाय आदि का बिना विचार किये एक निर्धन व्यक्ति में भी शिव को देख उसकी सहायता और सेवा की है, वह उस व्यक्ति की अपेक्षा शिव का अधिक कृपाभाजन है जो शिव को केवल मन्दिरों में देखता है।"

राष्ट्र के चरित्र का निर्माण करने के लिये स्वामी विवेकानन्द के उपर्युक्त विचारों का तीव्रता से प्रचार और प्रसार करना होगा। यही वह आधार है जिस पर राष्ट्र खड़ा रह सकता है। यही वह बुनियाद है जो देश को भौतिक दृष्टि से समृद्ध और आध्यात्मिक दृष्टि से सुपुष्ट कर सकता है। भौतिकता और आध्यात्मिकता के सुन्दर सन्तुलन बिना राष्ट्रीय चरित्र नहीं निखर सकता। अतएव भारतवासियों को स्वामी विवेकानन्द द्वारा निर्दिष्ट त्याग और सेवा के आदर्श की ओर उन्मुख करना होगा तथा उनकी सुप्त राष्ट्रीय चेतना को प्रबुद्ध करना होगा। इस कार्य की सिद्धि के लिए हम जो राष्ट्र के हित-चिन्तन में लगे हुए हैं उन्हें अपने जीवन में इन आदर्शों को उतारकर लोगों के समक्ष उदाहरण प्रस्तुत करना होगा। तभी लोगों को प्रेरणा मिलेगी।

राष्ट्र का चरित्र-निर्माण व्यक्ति के चरित्र-निर्माण से होता है। व्यक्ति की भावना जाग्रत् होने से राष्ट्र की भावना स्वतः ही जाग्रत् हो उठेगी।

●

साधारणतः मनुष्य अपने दोषों और भूलों को पड़ोसियों पर लादना चाहता है; यह न जमा, तो उन सबको ईश्वर के मत्थे मढ़ना चाहता है; और इसमें भी यदि सफल न हुआ, तो फिर भाग्य नामक एक 'भूत' की कल्पना करता है और उसी को उन सबके लिए उत्तर-दायी बनाकर निश्चिन्त हो जाता है! पर प्रश्न यह है कि 'भाग्य' नामक यह वस्तु है क्या और रहती कहाँ है? हम जो कुछ बोते हैं, बस वही पाते हैं। हम स्वयं अपने भाग्य के विधाता हैं। हमारा भाग्य यदि खोटा हो, तो भी कोई दूसरा दोषी नहीं; और यदि हमारे भाग्य अच्छे हों तो भी कोई दूसरा प्रशंसा का पात्र नहीं। वायु सर्वदा बह रही है। जिन जिन जहाजों के पाल खुले रहते हैं, वायु उन्हीं का साथ देती है और वे आगे बढ़ जाते हैं। पर जिनके पाल नहीं खुले रहते, उन पर वायु नहीं लगती। तो क्या यह वायु का दोष है?

—स्वामी विवेकानन्द

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद्चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

१. आपद-धर्म

कुरु-प्रदेश के उशस्ति अपने वेद-ज्ञान एवं पुण्यकार्यों के लिए प्रसिद्ध थे। एक बार कुरु-प्रदेश में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। कई दिनों के भूखे उशस्ति ग्राम-प्रमुख के द्वार पर पहुँचे और उससे उन्होंने भोजन माँगा। ग्राम-प्रमुख उस समय भोजन कर रहा था। उसने वेदनापूर्ण स्वर में कहा, "विद्वन्-श्रेष्ठ! मेरे पास केवल इतना ही भोजन है। भला मैं आपको उच्छिष्ट कैसे दूं?"

उशस्ति ने कहा, "उच्छिष्ट की चिन्ता नहीं, प्रमुख! तुम मुझे इसी भोजन में से कुछ ग्रास दे दो। शरीर-रक्षा हेतु यह उच्छिष्ट नहीं, पवित्र है।"

ग्राम-प्रमुख ने अप्रसन्न मन जूठे भोजन का कुछ अंश उशस्ति को दे दिया। जब वे भोजन कर चुके, तो प्रमुख ने जूठे जल का पात्र भी पीने के लिए उनकी ओर बढ़ा दिया। उशस्ति ने जल-पात्र प्रमुख की ओर सरकाकर कहा, "आर्य! मेरे शरीर को जल की नहीं, अन्न की आवश्यकता थी। धर्म-पालन हेतु शरीर-रक्षा आवश्यक है और शरीर-रक्षा हेतु मैंने जो जूठा भोजन ग्रहण किया, वह धर्मविहित है। जल की इस समय शरीर को आवश्यकता नहीं, अतएव उसे पीना तो वस्तुतः उच्छिष्ट ग्रहण करना ही होगा।"

२ स्वाभिमान

सुलह न होने के कारण जब युद्ध होना निश्चित हुआ, तो कौरव-पाण्डवों ने विभिन्न राजाओं को अपनी ओर से लड़ने का निमंत्रण भेजा। कुन्दनपुर के राजा रुक्म को भी दोनों ओर से निमंत्रण मिला। उसने सोचा कि न्याय-पक्ष पाण्डवों का है अतः उन्हीं का साथ दिया जाय, किन्तु बहिन के विवाह में कृष्ण ने मेरा अपमान किया था और कृष्ण अर्जुन का साथ दे रहे हैं, अतः पाण्डवों का साथ देना भी उचित नहीं, तथापि अर्जुन का अपमान करने से अप्रत्यक्ष रूप से कृष्ण का भी अपमान होगा। वह अर्जुन से बोला, "संसार में तीन धनुष प्रसिद्ध हैं--सारंग, गाण्डीव और विजय। 'सारंग' कृष्ण के पास है, 'गाण्डीव' तुम्हारे पास और 'विजय' मेरे पास। कृष्ण द्वारा निःशस्त्र तुम्हारा साथ देने के कारण 'सारंग' का कोई उपयोग न होगा, रहा तुम्हारे पास केवल 'गाण्डीव'। उसे यदि मेरे 'विजय' का साथ मिले, तो तुम्हें भी विजय मिल सकती है, लेकिन एक शर्त है। वह यह कि तुम्हें मेरे चरण छूकर यह कहना होगा कि 'मैं भयभीत हूँ और तुम्हारी शरण में आया हूँ। मेरी रक्षा करो।' तभी मैं अपनी स्वीकृति दूँगा।"

अर्जुन बोले, "रुक्म ! लगता है, तुम्हें अहंकार हो गया है। तुम्हें यह किसने बताया कि मैं भयभीत हो गया हूँ। अर्जुन को स्वयं पर पूर्ण विश्वास है, वह कायर नहीं। यदि मुझे स्वयं पर विश्वास न होता, तो

मैंने अकेले और वह भी निःशस्त्र कृष्ण को ही क्यों चुना होता और अक्षौहिणी सेना को क्यों अस्वीकार किया होता। याद रखो, अर्जुन कृष्ण के अलावा किसी की भी शरण न जायेगा।"

यह दो-टूक जवाब सुन रुक्म को क्रोध आ गया; बोला, "मैंने इतनी विशाल सेना लेकर तुम्हारा साथ देने का सोचा था, किन्तु तुमने मेरी शर्त स्वीकार न कर अपना अहित ही किया है। खैर, मैं अपनी शर्त दुर्योधन से पूरी करा उसी का साथ दूंगा।" और यह कह वह घमण्डी रुक्म वहाँ से चला गया, किन्तु स्वाभिमानी अर्जुन को अन्त में विजयश्री मिली, यह सर्वविदित ही है।

३ नम्रता का प्रयोजन

एक बार युधिष्ठिर भीष्माचार्य के पास गये और बोले, "मैं आपसे एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ—वह यह कि यदि कोई प्रबल शत्रु किसी निर्बल राजा पर आक्रमण कर दे, तो उसे राजनीति की दृष्टि से क्या करना चाहिए ?" भीष्म बोले, "इसके जवाब में मैं एक कथा सुनाता हूँ।

"सरित्पति समुद्र वैसे तो अपनी सभी पत्नियों पर प्रसन्न थे, किन्तु वेत्रवती नदी से असन्तुष्ट थे। एक बार जब वे उससे नाराज हुए, तो वेत्रवती ने अपराध पूछा। इस पर समुद्र ने बताया, 'तेरे किनारों पर बेंत के झाड़ बहुत हैं, मगर तूने आज तक बेंत का एक टुकड़ा भी

लाकर नहीं दिया। अन्य नदियाँ तो किनारे की सभी वस्तुएँ लाकर देती हैं, जब कि तूने साधारण-सा बेंत भी नहीं दिया।'

"वेत्रवती ने उत्तर दिया, 'नाथ ! इसमें मेरा कुछ भी अपराध नहीं है। बात यह है कि जब मैं जोश के साथ तेज गति से आती रहती हूँ, तो सारे बेंत के झाड़ नीचे झुककर पृथ्वी से मिल जाते हैं, किन्तु मेरे जाने के बाद पुनः ज्यों के त्यों सिर उठाकर खड़े हो जाते हैं। यही कारण है कि मुझे एक भी बेंत नहीं मिल पाता।'" कथा सुनाकर भीष्म बोले, "इस कथा का सार यही है कि उस परिस्थिति में निर्बल राजा को नम्रता का ही सहारा लेना चाहिए।"

४. श्रेष्ठ देव

एक बार कुछ ऋषियों ने व्यासजी के शिष्य सूतजी से प्रश्न किया, "सूतजी ! ब्रह्मा, विष्णु और शिव इन तीनों में अपने कर्म, योग्यता तथा प्रभाव से कौन श्रेष्ठ हैं एवं इनकी विशिष्टता क्या है ?"

सूतजी ने उत्तर दिया, "सर्वव्यापक परमेश्वर के सृष्टि-उत्पत्ति, पालन तथा संहार के कारण रूप, नाम और कर्म बदलते रहते हैं। परमेश्वर जब सृष्टि उत्पन्न करते हैं, तब 'ब्रह्मा' कहलाते हैं; जब सृष्टि का पालन करते हैं, तब 'विष्णु' कहलाते हैं एवं जब वे संहार करते हैं, तब ही 'शिव' कहलाते हैं। रज, सत्त्व और वे तम इन गुणों के कारण वे ही परमेश्वर सृष्टि-उत्पत्ति,

पालन और संहार इन तीन कार्यों के भेद से तीन विभिन्न रूपों में प्रकट होते हैं। वेद में इन तीनों को एक ही रूप मानकर 'त्रिमूर्ति' की संज्ञा दी गयी है। हमारे शास्त्र कहते हैं कि इन तीनों में से एक की भी जो निन्दा करता है, उसे तीनों की निन्दा का पातक लगता है। वास्तव में वह एक ही आत्मा है, जो अपनी ही माया से एक होते हुए भी मनुष्यों को तीन दिखायी देता है, अतः किसी एक की श्रेष्ठता का प्रश्न ही नहीं उठता।"

५. संयम का भ्रम

प्रात:काल सम्राट् पुष्यमित्र के अश्वमेध की पूर्णाहुति हो चुकी थी। रात को अतिथियों के सत्कार में नृत्योत्सव था। जब यज्ञ के ब्रह्मा महर्षि पतंजलि उसमें उपस्थित हुए, उनके शिष्य चैत्र के मन में गुरु के व्यवहार के औचित्य के विषय में शंकाशूल चुभ गया। उस दिन से उसका मन महाभाष्य और योगसूत्रों के अध्ययन में नहीं रमा। अन्त में एक दिन जब महर्षि चित्तवृत्ति-निरोध के साधनों पर प्रवचन कर रहे थे, चैत्र ने प्रासंगिक प्रश्न किया, "भगवन्! क्या नृत्य-गीत और रस-रंग भी चित्तवृत्ति-निरोध में सहायक है?" पारदर्शी पतंजलि साभिप्राय मुस्कराये और बोले, "वत्स! वास्तव में तुम्हारा प्रश्न तो यह है कि क्या उस रात मेरा सम्राट् के नृत्योत्सव में सम्मिलित होना संयम-व्रत के विरुद्ध नहीं था? संयम के सच्चे अर्थ को तुम नहीं समझे।

सुनो, आत्मा का स्वरूप है 'रस'—'रसो वै सः' । उस रस को परिशुद्ध और अविकृत रखना ही संयम है। विकृति की आशंका से रस-विमुख होना ऐसा ही है, जैसे कोई गृहिणी भिखारियों के भय से घर में भोजन पकाना बन्द कर दे अथवा कोई कृषक भेड़-बकरियों के भय से खेती करना छोड़ दे । यह संयम नहीं, पलायन है—आत्मघात का दूसरा रूप है । आत्मा को रस-वर्जित बनाने का प्रयत्न ऐसा ही भ्रमपूर्ण है, जैसे जल को तरलता से अथवा अग्नि को ऊष्मा से वियुक्त करने का प्रयास । अतएव इस भ्रम में कभी मत फँसो ।"

●

एक बात जो मैं सूर्य के प्रकाश की तरह स्पष्ट देखता हूँ वह यह है कि अज्ञान ही दुःख का कारण है, अन्य कुछ नहीं । जगत् को प्रकाश कौन देगा ? भूतकाल में बलिदान का नियम था और दुःख है कि युगों तक ऐसा ही रहेगा । संसार के वीरों को और सर्वश्रेष्ठों को 'बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय' अपना बलिदान करना होगा । असीम दया और प्रेम से परिपूर्ण सैकड़ों बुद्धों की आवश्यकता है ।

—स्वामी विवेकानन्द

योग की वैज्ञानिकता—६

डा. अशोककुमार बोरदिया

१८

प्रत्यक्ष एवं विपर्यय के मनोवैज्ञानिक पहलुओं पर चर्चा करने के बाद अब आइये, उनके दार्शनिक पक्ष पर विचार करें। विपर्यय की यथार्थता को लगभग सभी मतवादी स्वीकार करते हैं तथा उसे समझाने के लिये भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत करते हैं।[1]

(१) **असत्ख्यातिवाद**:-यह बौद्ध माध्यमिक सम्प्रदाय वादियों का सिद्धान्त है। इसके अनुसार हमें असत् ही भासता है, अर्थात भ्रम में विषयगत सामग्री का पूर्णतया अभाव रहता है। वे कहते हैं कि हमारे ज्ञान का यह सामान्य लक्षण है कि हम अविद्यमान को विद्यमान देखते हैं।

(२) **आत्मख्यातिवाद**:-बौद्ध योगाचार वालों के अनुसार भ्रम में उपस्थित सामग्री वस्तुजगत् में विद्यमान नहीं रहती। मन के प्रत्यय ही बाह्य जगत् में प्रतीत होते हैं। मन के बाहर, जगत् में सर्प की सत्ता नहीं है, वह तो मन की कल्पना मात्र है।

(३) **सत्ख्यातिवाद**:- रामानुजाचार्य के इस सिद्धान्त के अनुसार भ्रम में कुछ भी काल्पनिक नहीं होता। जो

---

[1] योग मनोविज्ञान—लेखक : डा. शान्ति प्रकाश आत्रेय, पृष्ठ ९३-९९

भी अनुभव किया जाता है वह यथार्थ प्रत्यक्ष हो, या भ्रम हो, उसकी वास्तविक सत्ता है। वह हमारी इन्द्रियों द्वारा प्रदान किया हुआ विषय का ज्ञान है, मन की कोरी कल्पना नहीं। मन तो केवल उस इन्द्रिय-जन्य ज्ञान को प्रकाशित करता है।

(४) **अन्यथाख्यातिवाद**– वस्तुवादी नैयायिकों के अनुसार भ्रम में हम विषय के उन गुणों का प्रत्यक्षानुभव करते हैं जो कालविशेष और स्थलविशेष में विद्यमान नहीं हैं किन्तु जो अन्यत्र विद्यमान हैं।

(५) **अख्यातिवाद**– यह सांख्य और मीमांसा दर्शनों का सिद्धान्त है। इसके अनुसार प्रत्येक विपर्यय दो प्रकार के ज्ञानों में भेद न कर सकने के कारण होता है। जब एक व्यक्ति रस्सी को देखता है, तो उसे एक टेढ़ी-मेढ़ी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। किन्तु वह पूर्व में अनुभव किये गये साँप के समरूप ज्ञान से वर्तमान अनुभव को पृथक् न कर पाने के कारण रस्सी को साँप समझ बैठता है।

(६) **अनिर्वचनीय ख्यातिवाद**– यह शंकराचार्य का सिद्धान्त है। इसके अनुसार जब सर्प दिखता है तब वही दिखता है, (रस्सी नहीं दिखती।) अतः एक प्रकार से सर्प सत्य ही है। उसके असत्य होने की हमें कल्पना तक नहीं होती। अतः हम डरकर भागते हैं। किन्तु इसे सत्य भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि रस्सी का ज्ञान हो जाने पर सर्परूपी भ्रम का पूर्ण रूप से नाश हो जाता है। इसीलिए

अद्वैत वेदान्तवादी उसे अनिर्वचनीय कहते हैं।

१९

उपर्युक्त दार्शनिक विवेचन के बाद, आइये, हम अपनी पाँच ज्ञानेन्द्रियों की क्षमता और परिमितता पर अधिक गहराई से विचार करें। हमारे चारों ओर के वातावरण में हमेशा अनेक चुम्बकीय एवं विद्युत्-तरंगें विद्यमान रहती हैं, किन्तु हम अपनी पाँच इन्द्रियों के द्वारा उनका अनुभव नहीं कर पाते। जब वे तरंगें रेडियो के द्वारा ध्वनि में अथवा टेलिविज़न के द्वारा चित्र में परिवर्तित हो जाती हैं, तभी हम उनका अनुभव अपनी इन्द्रियों द्वारा करने में समर्थ होते हैं। अतएव यदि हमारे इसी प्रकार की एक छठी इन्द्रिय और होती, तो हमारा यह शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धवाला जगत् किसी और ही रूप में प्रतीत होता। जिस प्रकार एक ही समय में अनेक ध्वनियाँ आकर हमारे कर्णरन्ध्रों पर टकराती हैं, उसी प्रकार विद्युत्-तरंगों को पकड़नेवाली एक इन्द्रिय के अधिक होने पर हम अनेक विद्युत्-तरंगों का एक साथ प्रत्यक्षीकरण करने में समर्थ होते। इसके विपरीत, जन्म से अन्धे अथवा बहरे व्यक्ति की जगत् की धारणा उसकी दृष्टि से सत्य किन्तु हमारी धारणा से भिन्न होती है।

यही नहीं, हमारी इन्द्रियों की तीव्रता एवं ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता—संवेदनशीलता—में भी भेद होता है। जो संगीत एक सामान्य व्यक्ति को सरस और कर्णप्रिय

लगता है, सम्भवतः वही गान संगीत के एक विशेषज्ञ को अरुचिकर और कर्कश प्रतीत हो। इसका कारण यह है कि संगीतज्ञ के कान संगीत की सूक्ष्म त्रुटियों एवं मृदुता को पकड़ने में सध चुके हैं। तात्पर्य यह कि ज्ञान-प्राप्ति के मापदण्ड के परिवर्तन से सत्य के मूल्यांकन में भी परिवर्तन हो जाता है। निरीक्षण के मापदण्ड (scale of observation or system of reference*) के इस रोचक सिद्धान्त को कुछ उदाहरणों से समझने का प्रयत्न करें।

यदि खड़िया और कोयले को अलग अलग पीसा जाये तो वे सफेद और काले दो चूर्ण में परिवर्तित हो जायेंगे। यदि इन दोनों को अच्छी तरह मिला दिया जाय तो चूर्ण का जो रंग होगा वह काले और सफेद के बीच का, राख के समान होगा। अब कल्पना कीजिये कि इस मिश्रित चूरे पर यदि चूरे के एक कण के कद का ही एक कीड़ा चले तो उसे वह चूरा भूरे रंग का नहीं दिखेगा। उसकी दृष्टि में तो चूरे के कण बड़े बड़े काले और सफेद पत्थर ही प्रतीत होंगे। तात्पर्य यह कि हमारे नेत्रों से भूरा दिखने वाला चूर्ण, निरीक्षण के मापदण्ड के परिवर्तित हो जाने के कारण, एक कीड़े को काले और सफेद पत्थरों का समूह दिखाई देगा।

---

* Human Destiny by Lecomte-Dui-Nouy, Page, 10-11.

एक और उदाहरण ले लें। छुरी की धार हमें बिलकुल सीधी दिखाई देती है। अणुवीक्षण यंत्र (Microscope) से देखने पर वह एक बालक के द्वारा खींची गयी लकीर के समान थोड़ी टेढ़ी-मेढ़ी दिखाई देगी। और यदि इसी को इलेक्ट्रोन-माइक्रोस्कोप (Electron Microscope) नामक यन्त्र, जो वस्तु को ५० हजार से एक लाख गुना बढ़ाकर दिखाता है, से देखा जाय तो सीधी लकीर के स्थान पर वह इलेक्ट्रान-प्रोट्रान यानी अणु-परमाणुओं का समूह ही दिखाई देगा। एक सुन्दर पुष्प एक कवि को साहित्य-सृजन की प्रेरणा प्रदान करता है; वैज्ञानिक उसी को कार्बन, हाईड्रोजन, आक्सीजन आदि के अणुओं का समूह मात्र मानता है; वनस्पति विज्ञानशास्त्री की दृष्टि उसकी पँखुड़ियों तथा डाली आदि की बनावट और विन्यास पर रहती है; और एक ईश्वर-भक्त उसे ईश्वर की शक्ति एवं सामर्थ्य का प्रतीक मानता है।

उपर्युक्त उदाहरणों से पाठक के मन में यह प्रश्न उठ सकता है कि एक ही वस्तु के अनेक पहलुओं में से सत्य कौन सा है। इसका उत्तर यह है कि इन सभी भिन्न भिन्न प्रतीत होनेवाले पहलुओं में कुछ कुछ सत्यता है, किन्तु वे सभी पूर्ण रूप से सत्य नहीं हैं। इसी बात को इस प्रकार भी कह सकते हैं कि हमारा बाह्य जगत् का इन्द्रिय और मन द्वारा प्राप्त समस्त ज्ञान या तो भ्रम मात्र है अथवा केवल सापेक्ष सत्य ही है। सीमित मन

और इन्द्रियों के द्वारा हम निरपेक्ष अथवा परम सत्य को नहीं जान सकते । कुछ दार्शनिकों का तो यहाँ तक कहना है कि वस्तुएँ जैसी हैं, वैसी नहीं दिखतीं, किन्तु हम जैसे हैं, हमारा मन जैसा है, उसके अनुरूप वे दिखाई देती हैं । हम अपने अज्ञान, मन की अपवित्रता, आसक्तियों, मानसिक झुकावों एवं पूर्वाग्रहों के कारण जगत् की वस्तुओं, व्यक्तियों एवं परिस्थितियों का सही मूल्यांकन करने में असमर्थ होते हैं । यही कारण है कि जीवन के बारे में हमारी अनेक धारणाएँ और निर्णय कुछ समय बाद असत्य सिद्ध हो जाते हैं । जैसे जैसे हम अधिकाधिक पवित्र होते जाते हैं और हमारी दृष्टि निरपेक्ष बनती जाती है, वैसे वैसे हम जगत् की समस्त घटनाओं को, अपने मानसिक झुकावों की छाप डाले बिना, देखने में समर्थ होते जाते हैं ।

२०

पातंजल-योगसूत्र के प्रथम अध्याय के सातवें सूत्र में तीन प्रकार के प्रमाण बतलाये गये हैं । प्रत्यक्ष-प्रमाण और अनुमान-प्रमाण पर चर्चा की जा चुकी है । प्रत्यक्ष और विपर्यय के मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक विवेचन के बाद, अब आगम-प्रमाण के महत्त्व को हम अधिक अच्छी तरह समझ सकेंगे ।

हम देख चुके हैं कि अपनी सीमित इन्द्रियों एवं अशुद्ध मन के माध्यम से हम केवल अपूर्ण एवं सापेक्ष सत्य को ही जान सकते हैं । इनके द्वारा परम सत्य का

सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। जिनका अन्तःकरण पूर्ण रूप से शुद्ध हो गया है तथा जो अतीन्द्रिय जगत् का भी ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होते हैं, ऐसे महापुरुष ही समग्र सत्य का अवलोकन कर सकते हैं। इन्हीं महापुरुषों को आप्त पुरुष कहा जाता है तथा इन्हीं की वाणी द्वारा निर्मित शास्त्रों को आगम कहते हैं। ऐसे "विशुद्ध योगी के मनश्चक्षु के सामने भूत, भविष्य और वर्तमान सब एक हो जाते हैं। उनके लिये मानो सारा ज्ञान एक पाठ्य पुस्तक के समान हो जाता है। ऐसे व्यक्ति ही पवित्र शास्त्रग्रन्थों के प्रणेता हैं और इसीलिये शास्त्र प्रमाण हैं।"[1]

स्वामी विवेकानन्द आप्त पुरुष के लक्षण बतलाते हुए कहते हैं—तुम्हें पहले देखना होगा कि वह व्यक्ति पवित्र और निःस्वार्थ है, उसमें रुपया-कौड़ी या नाम-यश की तृष्णा नहीं। दूसरे, उसके जीवन से यह प्रकट होना चाहिये कि वह अतिचेतन भूमि पर पहुँच गया है। तीसरे, उसे हम लोगों को ऐसा कुछ देना चाहिये जो हम इन्द्रियों से न पा सकते हों और जो संसार के कल्याण के लिये हो। साथ ही, वह किसी दूसरे सत्य का खण्डन न करे; यदि वह दूसरे वैज्ञानिक सत्यों का खण्डन करता हो, तो उसे तुरन्त त्याग दो। और चौथे, वह व्यक्ति किसी सत्य की ठेकेदारी न करे, अर्थात् वह ऐसा न कहे

[1] विवेकानन्द साहित्य—प्रथम खण्ड, पृष्ठ १२०.

कि इस सत्य में मेरा ही अधिकार है, किसी दूसरे का नहीं।[२]

२१

चित्त की तीसरी वृत्ति है कल्पना अथवा विकल्प, जिसकी परिभाषा पातंजल-योगसूत्र के प्रथम अध्याय-- समाधिपादके नवें सूत्र में की गयी है —

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ।।९।।

शब्द से उत्पन्न वह ज्ञान, जिसमें वस्तु की अपेक्षा न हो, विकल्प कहलाता है। जब हम किसी नगर का, किसी व्यक्ति अथवा घटना का विवरण पढ़ते अथवा सुनते हैं, तब उस विषय का स्वयं प्रत्यक्ष अनुभव न होने पर भी हमारे चित्त में उसका एक काल्पनिक चित्र खिंच जाता है, जो वास्तविकता से बिलकुल भिन्न रहता है। चित्त की यही वृत्ति विकल्प अथवा कल्पना कहलाती है। कुछ उदाहरणों से यह बात और स्पष्ट हो जायेगी।

श्रीमद्भागवत तथा अन्य वैष्णव ग्रन्थों में भगवान् श्रीकृष्ण का एवं उनकी लीलाओं का विस्तृत वर्णन मिलता है। हमने न तो भगवान् के दर्शन किये हैं, और न ही उनकी लीलाओं को देखा है। सम्भवतः हमने वृन्दावन की यात्रा की है। वृन्दावन की स्मृति के आधार पर हम भगवान् की लीलाओं की कल्पना कर लेते हैं--अमुक पेड़ के नीचे भगवान् ने रास रचाया होगा। अमुक स्थान पर वे गौएँ चराते होंगे, इत्यादि।

[२] विवेकानन्द साहित्य —प्रथम खण्ड, पृष्ठ १२१.

तात्पर्य यह है कि हम अपनी वृन्दावन की पूर्व स्मृति के साथ पुस्तकों से पढ़कर प्राप्त रासलीला आदि के ज्ञान को जोड़कर एक काल्पनिक जगत् का निर्माण करते हैं, जिसका वर्तमान में अस्तित्व है ही नहीं। इसी को विकल्प कहते हैं।

विकल्प एक वैयक्तिक (Subjective) वृत्ति है, वैषयिक (Objective) नहीं, क्योंकि उसके लिये इन्द्रियों द्वारा किसी विषय-पदार्थ का सम्पर्क होना आवश्यक नहीं, जैसा कि प्रमाण और विपर्यय में होता है। किन्तु इस कारण से इस वृत्ति का महत्त्व कम नहीं हो जाता। यदि हम गम्भीरता से इस विषय पर विचार करें तो पायेंगे कि हमारी जाग्रत् अवस्था का अधिकांश समय भूतकाल की स्मृतियों तथा भविष्य की कल्पनाओं में ही व्यतीत होता है। यही नहीं, स्वप्नावस्था में भी हमारा मन काल्पनिक जगत् में ही विचरण करता रहता है। यदि हम यह समझ लें कि जीवन का अधिकांश समय हम मानसिक उधेड़बुन और हवाई महल बनाने में बिता देते हैं, तो जीवन-निर्माण में कल्पना के महत्त्व को भी समझने में समर्थ हो सकेंगे। अगले लेख में विकल्प के इसी महत्त्वपूर्ण व्यावहारिक पक्ष पर विस्तार से विचार किया जायेगा।

●

अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द

प्राध्यापक देवेन्द्रकुमार वर्मा

(गतांक से आगे)

उन्नीसवीं शताब्दी की वैज्ञानिक उपलब्धियों ने ईसाई धार्मिक मान्यताओं को जबरदस्त चोट पहुँचाई थी। धर्म की दीवारें जड़ से हिल गयी थीं। विज्ञान धर्म के सम्मुख एक चुनौती के रूप में खड़ा था जिसका सामना करना धर्म के लिए दुष्कर हो रहा था। धर्म और विज्ञान के बीच बढ़ती हुई खाई अमेरिकावासियों के लिये चिन्ता का विषय बन चुकी थी। एक ओर थे कट्टरपन्थी ईसाई जिनके लिए बाइबिल का लिखा एक एक अक्षर सत्य की प्रतिमूर्ति था, भले ही वह विज्ञान के सिद्धान्तों से मेल न खाता हो। वे वैज्ञानिक तथ्यों को मानने के लिए तैयार न थे। उनके लिए धर्म की मान्यताएँ ही सब कुछ थीं। मध्ययुग में कई वैज्ञानिक जो अपने सिद्धान्तों पर अडिग रहे, इनकी हठधर्मिता के शिकार बन अपने जीवन से हाथ धो बैठे। अमेरिका के पश्चिमी और दक्षिणी भागों में ऐसे ही लोगों की अधिकता थी और इनके ही बीच अब स्वामीजी को जाना था।

दूसरी ओर थे उदारपन्थी लोग जो समय के प्रवाह को भलीभाँति समझ रहे थे। वे वैज्ञानिक उपलब्धियों की महत्ता को स्वीकार कर रहे थे और विज्ञान के तर्कनिष्ठ

सिद्धान्तों को अपना रहे थे। उन्हें अपने धर्म में निहित विज्ञान-विरोधी बातों को अस्वीकार करने में कोई हिचक नहीं थी तथा वे धर्मऔर विज्ञान के बीच सामंजस्य बिठाने हेतु तत्पर थे। ये लोग धर्म के आध्यात्मिक पक्ष को छोड़ उसका उपयोग समाज-उत्थान के कार्यों में करने का प्रयास कर रहे थे। मजदूरों की समस्याओं का समाधान, उनकी बस्तियों की सफाई, असामाजिक कार्यों का निराकरण तथा राजनीतिक दोषों का निवारण उदारपन्थी धर्मनेताओं का प्रमुख कार्य हो गया था। उनकी दृष्टि में सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में सदाचार बनाये रखना धर्म का प्रमुख उद्देश्य था। इन उदारपन्थियों का प्रभाव अधिकतर अतलान्तिक महासागर के पूर्वी तट पर था। इस प्रकार उदारपन्थी सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति में लगे हुए थे जबकि कट्टरपन्थी समाज में व्याप्त अनैतिकता तथा शराबखोरी के विरुद्ध मोर्चा ले रहे थे।

कट्टरपन्थियों के इस कार्य में अग्रणी थीं वे महिलाएँ जिन्हें गिरजादासियों (चर्च विमेन) के नाम से जाना जाता था। मध्य-पश्चिम तथा दक्षिण में इनकी अधिकता थी। ये लोग तर्क तथा युक्ति को प्रधानता न देकर कोरी भावुकता को ज्यादा महत्त्व देतीं तथा पाप या एक कल्पित अनैतिकता का आविष्कार कर उसके निराकरण को ही धर्म का सार मान उसी में संलग्न रहतीं। उनकी नैतिकता और पवित्रता की धारणा अति पुरातन-

वादी तथा संकुचित दृष्टिकोण लिये हुए थी जिसमें आधुनिक जीवन, कर्म और कला के लिए कोई स्थान न था। ऐसी चीजों के प्रति उनकी सहज ईर्ष्या-वृत्ति थी। उनके नैतिकतासम्बन्धी दृष्टिकोण का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि छोटे छोटे बच्चों का किसी नदी में निर्वस्त्र स्नान करना उनकी दृष्टि मे अत्यन्त अशोभनीय और अश्लील था। इन गिरजा-दासियों के भय से सारा समाज संत्रस्त था। प्रेसवाले इनसे भय खाते क्योंकि इनका विरोध करने पर उन्हें इनके क्रोध का शिकार होना पड़ता। मिशनरियों को इनसे प्रचुर धन की प्राप्ति होती। नारी-समाज में नवीन संस्कृति तथा प्रगति का जो भी आभास दिखायी देता, उसे ये गिरजा-दासियाँ अवज्ञा की दृष्टि से देखतीं तथा एक काल्पनिक प्राचीनकालीन संस्कृति-सम्पन्न नारी-समाज के आदर्श को सबके सामने रखतीं। इनका आतंक इतना अधिक था कि सभी सामाजिक कार्यों में इनकी ही विजय होती तथा पुरुष बेचारे चुपचाप इनका वर्चस्व स्वीकार कर लेते। स्वामीजी ने बाद में इनके बारे में लिखा था, "ये 'चर्च विमेन' भयंकर रूप से धर्मान्ध होती हैं। ये यहाँ के पादरियों के अँगूठे के नीचे हैं। उन्होंने और पादरियों ने मिलकर पृथ्वी का नरक बना दिया है तथा धर्म का सत्यानाश कर डाला है।"

इन गिरजा-दासियों की भावुकता का लाभ उठाकर पादरियों ने भारत का, और विशेषकर भारतीय

महिलाओं का ऐसा गर्हित चित्रण पुस्तकों तथा व्याख्यानों के माध्यम से प्रस्तुत किया था जिसकी आज धारणा करना ही असम्भव है। भारतीय नारी को अत्यन्त दुराचारिणी, बर्बर, कठोरहृदय और अशिक्षित चित्रित किया गया था। पादरियों के इस दुष्प्रचार का कारण यह था कि इसके द्वारा वे भारतीय महिलाओं के प्रति इन गिरजा-दासियों की सहानुभूति अर्जित कर उनसे ईसाई धर्म के प्रचार के लिए प्रचुर राशि प्राप्त करना चाहते थे। यही नहीं, बच्चों को पढ़ायी जानेवाली पुस्तकों में चित्रों और कविताओं के माध्यम से भारतीय समाज के बारे में पूर्णतया असत्य, भ्रामक तथा अत्यन्त निन्दनीय बातों का वर्णन रहता था। फलस्वरूप बचपन से ही अमेरिकावासियों की धारणा भारत के बारे में एक असभ्य, जंगली और बर्बर राष्ट्र के रूप में बन जाती और इस प्रकार पादरियों को इनसे पैसा ऐंठने का भरपूर सुयोग मिलता। भारत के बारे में किये गये दुष्प्रचार की तनिकसी झलक बच्चों की एक पुस्तक 'Songs for the Little Ones at Home' में मिलती है, जिसमें एक चित्र में दर्शाया गया है कि एक भारतीय माता नदी के किनारे मगर के मुंह में अपने बच्चे को फेंक रही है। उसके नीचे लिखा हुआ है--

See that heathen mother stand
Where the sacred current flows;
With her own maternal hand
Mid the waves her babe she throws,

Hark! I hear the piteous scream;
Frightful monsters seize their prey,
Or the dark and bloody stream
Bears the struggling child away.
Fainter now, and fainter still,
Breaks the cry upon the ear;
But the mother's heart is steel,
She unmoved that cry can hear.
Send, oh send the Bible there,
Let its precepts reach the heart;
She may then her children spare--
Act the tender mother's part.

—'देखो, देखो ! पवित्र जलधारा के किनारे हीदन (अ-ईसाई) माता खड़ी है और अपने ही हाथों अपने बच्चे को जल की लहरों में फेंक दे रही है।

'सुनो ! मैं उस बच्चे के करुण आर्तनाद को सुन पा रहा हूँ। भयंकर जलचर उस बच्चे पर झपटते हैं। पानी की खूनी और काली लहरें बच्चे को बहाकर ले जाती हैं। बच्चा छटपटाता है, चिल्लाता है।

'कानों में आती आवाज क्रमशः धीमी होती जाती है। किन्तु माँ का हृदय पत्थर का जो है—चुपचाप, बिना विचलित हुए वह बच्चे की करुण आवाज सुन लेती है।

'भेजो, भेजो ! वहाँ बाइबिल भेजो जिससे उसके उपदेश वह सुने तो। सुननें से उसका मातृ-हृदय ठीक कार्य करेगा और वह अपने बच्चों के प्रति इस प्रकार निर्मम न बनेगी।'

एक दूसरे चित्र में बताया गया था कि एक भारतीय

पति अपने हाथों से अपनी पत्नी को चिता में जीवित जला रहा है। तीसरे चित्र में था--एक हिन्दू माता अपने नवजात शिशु को जंगल के एक वृक्ष में लटकाकर चील-कौए आदि माँसाहारी पक्षियों के भक्षण के लिए छोड़ आती है।

यह तो बच्चों की पुस्तक की बात हुई। इसके अतिरिक्त ऐसी अनेक पुस्तकें थीं, जिनमें भारतीय जन-जीवन का अत्यन्त कुत्सित वर्णन रहता। ये पुस्तकें भारत में जानेवाले पादरियों द्वारा प्राय: लिखी जातीं। उनमें भारतीय धर्म तथा रीति-रिवाजों को विकृत रूप से दर्शाया जाता। ऐसी पुस्तकें हाथों हाथ बिक जातीं। तभी तो स्वामीजी ने बाद में अपने डिट्रायट के एक भाषण में कहा था कि पाश्चात्य देशों ने भारत के विरुद्ध जिस प्रकार विष-वमन और मिथ्या-प्रचार किया है उसके प्रतिशोध के फलस्वरूप अगर सारा भारत खड़ा हो जाय और हिन्दमहासागर के तल में स्थित सारे कीचड़ को उछालकर पाश्चात्य देशों पर फेंके तो भी यह उस हानि के एक लक्षांश का भी प्रतिशोध नहीं होगा जो ईसाई मिशनरियों द्वारा भारतीयों को पहुँचायी गयी है।

इस भ्रामक दुष्प्रचार का फल यह हुआ था कि स्वामीजी के अमेरिका-आगमन के वर्षों पूर्व ही अमरीकी जनमानस भारत के प्रति दुर्भावना से भर गया था। अतएव यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि

उन लोगों की इस दुर्भावना को मिटाना स्वामीजी के लिए कितना दुष्कर कार्य रहा होगा तथा उन्हें किस मानसिक यन्त्रणा से गुजरना पड़ा होगा। उनके सामने अब अपने देश के प्रबलतम शत्रुओं का सामना करने का अवसर उपस्थित हुआ था और वे उन लोगों से जूझने के लिए कमर कसकर तैयार हुए थे। तब पाश्चात्य लेखकों द्वारा लिखा एक भी ऐसा ग्रन्थ अमेरिका में प्राप्य नहीं था जो भारत का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करता। फिर भला लोग कैसे उनकी बात पर विश्वास करते? अपने कथन की पुष्टि में वे भला प्रमाण भी क्या देते? सर्वप्रथम तो उन्हें इन विरोधियों का मुँह बन्द करना था। ऐसी ही दुविधा और निराशा के क्षणों में उन्हें एक पुस्तक हाथ लगी। लुई रोसलेट द्वारा लिखी यह पुस्तक भारत की यात्रा पर थी। पुस्तक का नाम था–'India and Its Native Princes--Travels in Central India and in the Presidencies of Bombay and Bengal'। उसमें भारत का यथार्थ चित्रण था। निस्सन्देह स्वामीजी को यह पुस्तक मरुस्थल में हरितभूमि-सी प्रतीत हुई होगी। उन्होंने इसका कुछ अंश (पृष्ठ ५३३) नोट कर लिया था, जो इस प्रकार था --

"क्या इस संसार में ऐसे लोग हैं जो सहिष्णुता में इन विनम्र और भले हिन्दुओं से बढ़कर हों? इन हिन्दुओं को हमारे सम्मुख प्रायः धूर्त, क्रूर तथा रक्त-पिपासु के रूप में वर्णित किया जाता है। उनकी तुलना

क्षण भर के लिए मुसलमानों से अथवा हमीं लोगों से करो जो अपनी सभ्यता और सहिष्णुता के लिए प्रसिद्ध हैं। किसी चीनी अथवा भारतीय को हमारी सड़कों पर किसी उत्सव या त्योहार के दिन चलने भर दो; अगर उसकी वेशभूषा इस देश के रीति-रिवाज से भिन्न हो तो देखो कि भीड़ किस प्रकार उसके प्रति अशिष्टता-पूर्ण व्यवहार करती है। क्या वेशभूषा की अज्ञानता उसे क्षमा करेगी ? मुझे शंका है। और किस देश में ऐसा दृश्य देखने में आ सकता है जैसा मैंने उस दिन बनारस की चौक में अपनी आँखों से देखा ? विश्वनाथ के मन्दिर से दस कदम की दूरी पर, जिसे हिन्दू अपने धर्म का अत्यन्त पवित्र स्थल मानते हैं, एक प्रोटेस्टेंट पादरी झाड़ के नीचे कुर्सी में बैठा हुआ था और हिन्दी में ईसाई धर्म पर उपदेश करता हुआ मूर्तिपूजा के दोष गिना रहा था। मैंने उसके गले के नीचे से निकलती हुई कर्कश आवाज को सुना, जो आदर के साथ उसे घेरी हुई तन्मय भीड़ को भेदती हुई निकल रही थी—'तुम लोग बुतपरस्त हो। यह पत्थर का टुकड़ा जिसकी तुम पूजा करते हो, खदान से निकाला गया है। उसमें और मेरे घर के पत्थर में कोई अन्तर नहीं है'।

"उसकी इस निन्दा का कोई असर नहीं हुआ। लोग ध्यानचित्त से उसकी बात सुनते रहे। उसकी व्याख्या पर बीच बीच में श्रोताओं द्वारा प्रश्न पूछे जाते और वह बहादुर प्रचारक अपनी बुद्धि के अनुसार

जितना अच्छा बन पड़ता उत्तर देता ! हमें तो उस पादरी के साहस की दाद देनी होगी, जिसके सद्गुणों को हिन्दुओं की सुप्रसिद्ध सहिष्णुता धोखा देने में असमर्थ रही ! और यह वही सहिष्णुता है जो पादरियों को सबसे ज्यादा निराश करती है। उनमें से एक ने मुझसे कहा था, 'हमारे सारे प्रयत्नों पर पानी फिर जाता है। जिस व्यक्ति का अपने धर्म पर अटूट विश्वास हो और जो अपने धर्म के प्रति किये गये सारे आक्षेपों को बिना किसी विरोध के सुन लेता हो उसका धर्म-परिवर्तन करना एक असम्भव कार्य है।'"

तो, ऐसे विरोधी वातावरण के बीच स्वामीजी ने जिस साहस के साथ अपने उदार मत का प्रचार किया था वह वास्तव में अत्यन्त आश्चर्यजनक है। यह ठीक है कि उनके सिद्धान्तों को पूरी तरह से ग्रहण करनेवालों की संख्या बहुत कम थी किन्तु इस सत्य को भी नकारा नहीं जा सकता कि उन्होंने जिस शक्तिशाली भावधारा को प्रवाहित किया था, उसके प्रति अनेक शत्रु तथा मित्र दोनों का ध्यान पूरे वेग के साथ आकर्षित हुआ था और वे अपनी भावधारा, वैचारिक पृष्ठभूमि तथा कार्यप्रणाली के अनुसार उसे ग्रहण करने के लिए बाध्य हुए थे। स्वामी अभेदानन्द ने १८ मार्च सन् १९०३ को न्यूयार्क की वेदान्त सोसायटी के समक्ष भाषण देते हुए कहा था—"पिछले दस वर्षों में संयुक्तराष्ट्र अमेरिका में ऐसे बहुत ही कम गिरजाघर रहे होंगे जहाँ की वेदियों से

विश्ववन्द्य स्वामी विवेकानन्द के उपदेशों के पक्ष या विपक्ष में बोलने के लिए धर्मोपदेशकगण बाध्य न हुए हों।" चाहे शत्रुभाव से हो अथवा मित्रभाव से, स्वामीजी के उपदेशों द्वारा अमेरिका में एक अभूतपूर्व परिवर्तन आया जिसके प्रभाव से कट्टरपन्थियों के मध्य-पश्चिमी और दक्षिणी युक्तराष्ट्र के गढ़ भी अछूते नहीं बचे।

अपनी दक्षिण-यात्रा के दौरान स्वामीजी १३ जनवरी १८९४ को मेम्फिस पहुँचे। वहाँ वे नाइन्टियेथ सेंचुरी क्लब द्वारा आमंत्रित किये गये थे। मेम्फिस में वे श्री ह्यू एल. ब्रिंकले के अतिथि बने। उसी दिन शाम को श्रीमती एस. आर. शेफर्ड द्वारा उनके स्वागत में एक समारोह का आयोजन किया गया। दूसरे दिन १४ जनवरी को स्थानीय पत्र के संवाददाता ने उनसे भेंट ली, जिसका समाचार १५ जनवरी के 'मेम्फिस कमर्शियल' में इस प्रकार प्रकाशित हुआ--

हिन्दू संन्यासी स्वामी विवेकानन्द मेम्फिस में शनिवार को पहुँचे। वे आज ३ बजे अपराह्न में नाइन्टियेथ सेंचुरी क्लब में तथा कल रात्रि में सभाभवन में व्याख्यान देंगे।...

स्वामी विवेकानन्द कुछ बातों में मेम्फिस में पधारे व्यक्तियों में सर्वाधिक दिलचस्प हैं। अपनी जाति का परित्याग कर वे हिन्दू संन्यासी-संघ में प्रविष्ट हो गये। शिकागो में विश्व-प्रदर्शनी के अवसर पर जो विश्वधर्ममहासभा आयोजित की गयी थी,

उसमें वे, कम से कम अमरीकनों के लिए, सबसे अधिक रोचक व्यक्ति थे। वह केवल इसलिए नहीं कि वे सुदूर देश से एक धर्म-प्रतिनिधि के रूप में आये थे वरन् इसलिए कि उनके द्वारा प्रदत्त व्याख्यान उस विशाल धर्ममहासभा में सर्वोत्कृष्ट थे।...

विवेकानन्द का व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावी है। यद्यपि वे रंग-रूप से काले हैं तथापि उनका तेजस्वी ललाट, बड़ी बड़ी सुन्दर आँखें, उनके काले बाल, उनका सहज और प्रभावी शिष्टाचार तथा उनकी सुन्दर आकृति और चाल उन्हें अत्यन्त रूपवान बना देती है।

संवाददाता द्वारा यह पूछे जाने पर कि उन पर अमेरिका का कैसा प्रभाव पड़ा, उन्होंने कहा—
"मेरे मन पर इस देश के बारे में अच्छा प्रभाव पड़ा है, विशेषकर अमरीकी महिलाओं का। मैंने अमेरिका में गरीबी का अभाव विशेषरूप से देखा।"

इसके बाद बातें धर्म-विषयों पर केन्द्रित हुईं। स्वामी विवेकानन्द ने अपना मत व्यक्त किया कि विश्वधर्ममहासभा इस अर्थ में उपयोगी सिद्ध हुई है कि उसने विचारों को उदार बनाने में बड़ा योगदान दिया है।

संवाददाता ने प्रश्न किया, "ईसाई धर्मावलम्बियों का मृत्यु के बाद क्या होगा इस सम्बन्ध में आपके धर्मवालों की क्या धारणा है?"

"हमारा विश्वास है कि यदि वह अच्छा आदमी है

तो उसका उद्धार होगा। हमारा विश्वास है कि यदि कोई नास्तिक है पर अच्छा आदमी है, तो उसका भी अवश्य उद्धार होगा। यही हमारा धर्म कहता है। हम मानते हैं कि सारे के सारे धर्म अच्छे हैं, केवल उनके अनुयायियों को चाहिए कि वे आपस में न लड़ें।"

स्वामी विवेकानन्द से भारत के जादू के आश्चर्यजनक करिश्मों, हवा में ऊपर उठने तथा प्राणावरोध आदि की सत्यता के बारे में प्रश्न किये गये। उन्होंने कहा--

"हम चमत्कारों में बिलकुल विश्वास नहीं करते, किन्तु यह मानते हैं कि प्राकृतिक नियमों के द्वारा ऊपर से अद्भुत दीखनेवाले कार्य सम्पादित किये जा सकते हैं। इन विषयों पर भारत में विपुल साहित्य है तथा वहाँ लोगों ने इन विषयों का अध्ययन किया है।

"मनोभावों को जानने तथा घटनाओं की भविष्यवाणी करने के अभ्यास में हठयोगीगण सफल हुए हैं।

"जहाँ तक हवा में ऊपर उठने की बात है, मैंने किसी को गुरुत्वाकर्षण पर विजय प्राप्त कर इच्छानुसार हवा में ऊपर उठते कभी नहीं देखा, किन्तु मैंने ऐसे बहुत से लोगों को देखा है, जो इसकी साधना कर रहे थे। वे इस विषय में प्रकाशित पुस्तकें पढ़ते हैं और चमत्कार-सिद्धि के लिए वर्षों प्रयत्न करते हैं। अपने इस प्रयास में कुछ लोग प्रायः निराहार रहते हैं और अपने को इतना दुबला-पतला बना डालते हैं कि यदि कोई उनके पेट में अँगुली गड़ाये तो रीढ़ छू ले।

"इन हठयोगियों में से बहुत से दीर्घजीवी होते हैं।"

प्राणावरोध का प्रश्न पुनः उठाये जाने पर हिन्दू संन्यासी ने 'कमर्शियल' के संवाददाता को बताया कि वे स्वयं एक मनुष्य को जानते हैं जो एक बन्द गुफा में प्रविष्ट हो गये। गुफा को एक गुप्त द्वार से बन्द कर दिया गया और वे वहाँ वर्षों तक निराहार पड़े रहे। यह सुनकर उपस्थित लोगों में स्वाभाविक ही उत्सुकता की लहर दौड़ गयी। विवेकानन्द को उपर्युक्त घटना की सत्यता में किंचित् भी सन्देह नहीं है। वे कहते हैं कि प्राणावरोध की अवधि में शरीर में वार्धक्य की क्रिया स्थगित हो जाती है। उनका कहना है कि भारत में उस आदमी की बात पूर्णतया सही है जिसे जीवित दफना दिया गया और जिसकी समाधि पर जौ के पौधे उग आये पर अन्त में जो जीवित निकल आया। उनका विचार है कि जिस अध्ययन ने व्यक्तियों को यह असाधारण कार्य करने में समर्थ बनाया वह हिमशायी प्राणियों से सूझा होगा।

विवेकानन्द ने कहा कि उन्होंने उस करिश्मे को कभी नहीं देखा, जिसके बारे में कुछ लेखकों का दावा है कि यह भारत में दिखाया गया है——हवा में रस्सी फेंकना और उस पर चढ़कर सुदूर आकाश में अदृश्य हो जाना।

जिस समय संवाददाता विवेकानन्द से वार्तालाप कर रहा था, एक उपस्थित महिला ने कहा कि किसी ने उससे

पूछा है कि क्या विवेकानन्द आश्चर्यजनक करिश्मे कर लेते हैं और क्या वे अपने सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पूर्व, उसके एक अनुष्ठान के रूप में, पृथ्वी के भीतर समाधि लगा चुके हैं। इन दोनों प्रश्नों का उत्तर पूर्णतया नकारात्मक था। उन्होंने कहा, "इन बातों का धर्म से क्या प्रयोजन? क्या ये मनुष्य को पवित्रतर बनाती हैं? आपकी बाइबिल का 'शैतान' भी तो शक्तिशाली है, किन्तु वह पवित्र न होने के कारण ईश्वर से भिन्न है।"

हठयोग-सम्प्रदाय की बात करते हुए विवेकानन्द ने कहा कि उनमें अपने शिष्यों की दीक्षा से सम्बन्धित एक प्रथा है जो ईसा के जीवन की एक घटना की ओर संकेत करती है; सम्भव है कि यह एक संयोग ही हो पर हठयोगी भी अपने शिष्यों को ठीक चालीस दिन तक एकाकी रहने के लिए बाध्य करते हैं।

आज दोपहर में केवल क्लब के सदस्य तथा आमंत्रित व्यक्ति ही स्वामी विवेकानन्द का व्याख्यान सुन सकेंगे; किन्तु कल रात्रि में सभाभवन में जनसाधारण को भी इस अद्भुत दिलचस्प व्यक्ति को, जिसकी बातें किसी हालत में कम रोचक नहीं, सुनने का सुअवसर मिलेगा।

(क्रमशः)

•

दीर्घसूत्री सुखी नरः।

सन्तोष कुमार झा

किसी तपोवन में गौतम नामक एक तपस्वी ब्राह्मण रहते थे। उनके एक मेघावी और बलवान पुत्र था। किन्तु था वह बड़ा दीर्घसूत्री। जब कभी उससे कोई काम करने को कहा जाता या वह स्वयं जब कभी कुछ काम करता तो उसे बहुत देर बाद और धीरे धीरे करता। इस कारण उसके दूसरे भाई-बहिन उससे असन्तुष्ट रहते तथा सहपाठी उसकी हँसी उड़ाया करते और उसे चिरकारी कहकर चिढ़ाया करते। किन्तु चिरकारी इन सब बातों की चिन्ता न करता तथा अपनी धुन से ही वह कार्य करता।

आश्रमवासी, सहपाठी, भाई-बहिन सभी उससे असन्तुष्ट थे; किन्तु उसके पिता उससे कभी असन्तुष्ट न हुए। पिता का उसके प्रति इस प्रकार का व्यवहार देख सभी को विस्मय होता और लोग सोचते कि पिता के कारण ही चिरकारी बिगड़ गया है। कोई कहता, गौतम पुत्र के मोह के कारण उसे कुछ कहते नहीं; तो दूसरा कहता, चिरकारी मूर्ख है इसीलिये गौतम उससे कुछ कहते नहीं। सभी ने अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार धारणाएँ बना ली थीं। किन्तु तपस्वी गौतम के मन की

बात कोई नहीं जानता था ।

एक बार चिरकारी की माता से कुछ अपराध हो गया । इससे उसके पिता इतने क्रोधित हुए कि उन्होंने चिरकारी को बुलाकर आज्ञा दी—"जा और अपनी माता का सिर काट ले !"

ऐसी आज्ञा देकर वे वन को चले गये । इधर चिरकारी अपने स्वभाव के अनुसार धीरे धीरे सोच-विचार करने लगा कि मैं किस शस्त्र से माँ का वध करूँ ? वह शस्त्र कहाँ से लाऊँ ? क्यों लाऊँ ? और भी न जाने क्या क्या सोचता रहा । बड़ी देर बाद वह उठा और एक तलवार लेकर आया । अब वह सोचने लगा कि 'मैं अपनी माता का वध करूँ या न करूँ ? यदि मैं उसका वध न करूँ तो पिता की आज्ञा का उल्लंघन होगा, जो किसी भी पुत्र के लिये उचित नहीं है । यदि माँ की हत्या करूँ तो पुत्र के लिये उससे बड़ा पाप और कोई दूसरा नहीं है । ऐसा विचार करते करते वह सोचने लगा कि माता और पिता में श्रेष्ठ कौन है ? ऐसे धर्म-संकट के समय किसकी आज्ञा का पालन करना चाहिये ? किसे श्रेष्ठ मानना चाहिये ?'

पिता के प्रति उसके मन में विचार आया—'पिता भरण-पोषण तथा शिक्षा की व्यवस्था करते हैं अत: वे ही प्रधान गुरु और पोषक हैं । अत: पिता ने जो आज्ञा दी है उसे धर्म मानकर उसका पालन करना चाहिये । पिता ही पुत्र को सभी देय वस्तुएँ देते हैं, अतः उनकी

आज्ञा का पालन बिना विचारे ही करना चाहिये। पिता की आज्ञा का पालन करनेवाले के सभी पाप नष्ट हो जाते हैं, फिर उनकी आज्ञा का पालन करने पर भला पाप कैसे लग सकता है? अस्तु पिता ही श्रेष्ठ है। शास्त्रों ने भी पिता को धर्म और स्वर्ग कहा है।'

चिरकारी के मन में दूसरा विचार आया--'मैंने पिता के सम्बन्ध में तो विचार कर लिया, उनकी श्रेष्ठता भी जान ली। अब थोड़ा माता के सम्बन्ध में भी विचार कर लूं। पिता ने मुझे माँ को मारने की आज्ञा दी है। एक तो वह स्त्री है और दूसरी, मेरी गर्भधारिणी माँ। यदि मैं पिता की आज्ञा का पालन करूँगा तो मुझे दो हत्याओं का पाप लगेगा--एक स्त्री-हत्या का और दूसरी मातृ-हत्या का! मनुष्य के जन्म में माता ही विशेष कारण है क्योंकि वह सन्तान को नौ महीने तक अपने उदर में धारण करती है तथा उसकी पुष्टि के लिये अनेक कष्ट सहती है। जन्म होने पर शिशु नितान्त असहाय रहता है। माता ही उसे आश्रय देती है। अपना दूध पिला उसे पाल-पोसकर बड़ा करती है। अतः मनुष्य के जन्म और उसकी उन्नति में माता का ही विशेष योगदान रहता है। इसलिये माता श्रेष्ठ है। पुत्र भले ही कुपुत्र हो जाय किन्तु माता कभी कुमाता नहीं होती। वह सदैव पुत्र की मंगल-कामना ही करती रहती है; उसे सदा आशीर्वाद देती है। वह पूज्या है अतः अवध्य है। उसका वध करना सर्वथा धर्मविरुद्ध

है ।'

दूसरे क्षण चिरकारी के मन में विचार आया--'जमदग्नि-नन्दन परशुराम ने तो पिता की आज्ञा से अपनी माता का वध कर दिया था। तब क्या मुझे भी पिता की आज्ञा का पालन नहीं करना चाहिये ? उसने पुनः विचार किया--'मैंने भी तो उत्तम गुरु से शिक्षा पायी है। धर्म-शास्त्रों, स्मृति, श्रुति आदि का अध्ययन भी किया है। तब फिर मुझे अपने ही विवेक से निर्णय क्यों नहीं करना चाहिये ?'

चिरकारी इसी उधेड़बुन में लगा रहा और समय बीतता गया। उधर वन में तपस्वी गौतम का क्रोध जब शान्त हुआ तब उन्हें सहसा स्मरण हो आया कि क्रोध में मैंने चिरकारी को उसकी माता का वध करने की आज्ञा दे दी थी। वह बड़ा ही आज्ञाकारी पुत्र है। हाय ! कहीं उसने मेरी अनर्थकारी आज्ञा का पालन तो नहीं कर लिया होगा ? इस विचार से गौतम अत्यन्त व्याकुल हुए और शीघ्रता से आश्रम की ओर लौट चले। चलते चलते वे मन में पश्चात्ताप कर रहे थे कि क्रोध के आवेश में मेरी बुद्धि कैसी मारी गयी, जो मैंने चिरकारी को ऐसी पापपूर्ण आज्ञा दे दी ! हाय ! हाय ! क्रोध के आवेग में मैंने अपने ही पुत्र से अपनी पत्नी की हत्या करने को कह दिया !

गौतम के व्यथित मन में आशा की एक किरण फूटी। मेरा पुत्र तो चिरकारी है। वह सभी कार्य देर

से करता है। हो सकता है, मातृहत्या के महापाप को करने में वह विलम्ब कर रहा हो। इस विचार के आते ही गौतम जितनी शीघ्रता से चल सकते थे, आश्रम की ओर बढ़ चले तथा दूर से ही चिरकारी को पुकार-पुकारकर कहने लगे—"बेटा चिरकारी! यदि तूने आज मेरी आज्ञा का पालन करने में देर की होगी तो सचमुच ही तू चिरकारी सिद्ध होगा। तेरा नाम सार्थक होगा।"

आश्रम के निकट आते ही गौतम ने देखा कि उनका पुत्र हाथ में खड्ग लिये खड़ा है तथा वहीं पास ही उसकी माता कुटी के खम्भे के सहारे टिकी हुई उदास खड़ी है। पिता को देखते ही चिरकारी ने खड्ग फेंक दिया और उनके चरणों में लोट गया। पिता ने उसे उठाकर स्नेहपूर्वक हृदय से लगा लिया और कहा, "वत्स! तू धन्य है। आज तक लोग तुझे दीर्घसूत्री और आलसी कहा करते थे। किन्तु मैं जानता था कि तू आलसी और दीर्घसूत्री नहीं है। अपितु तू सभी कार्य ठीक ठीक सोच-विचारकर ही किया करता है। यही कारण है कि आज तू मातृहत्या और स्त्रीहत्या के महान् पातक से बच गया तथा मुझे भी तूने पत्नी की हत्या के महान् पाप से बचा लिया। बेटा! तेरी बुद्धिमत्ता और धैर्य से मैं प्रसन्न हूँ। आज मैं तुझे कार्य की कुशलता का वह रहस्य बताता हूँ जिसे मैंने अनुभवी विद्वानों से सुना है तथा स्वयं अपने जीवन में भी जिसका

मैंने पालन किया है।

"वत्स ! चिरकाल तक सोच-विचार कर ही किसी से मैत्री करनी चाहिये और एक बार जिसे मित्र बना लिया उसे सहसा नहीं छोड़ना चाहिये। यदि कभी छोड़ने की आवश्यकता पड़ ही जाय तो उस बात पर चिरकाल तक विचार कर लेना चाहिये, क्योंकि चिर-काल तक विचार कर बनाये गये मित्र की मैत्री भी चिरकाल तक टिकती है।

"राग, दर्प, अभिमान, द्रोह तथा पाप का आचरण करने में जो विलम्ब करता है, उसका सदैव कल्याण होता है। जो बन्धुओं, सेवकों आदि के अपराध करने पर देर तक विचार कर निर्णय लेता है, उसकी सदैव सर्वत्र प्रशंसा होती है। जो दीर्घकाल तक रोष को दबाकर रखता है तथा रोषपूर्वक किये जानेवाले कार्य को दीर्घकाल तक नहीं करता, उसे कभी पश्चात्ताप नहीं करना पड़ता। दीर्घकाल तक बड़े-बूढ़ों और सयानों की सेवा करनेवाले का धर्म सहज ही सध जाता है। अधिक समय तक विद्वानों का सत्संग करके अपने मन को चिरकाल तक वश में रखने से मनुष्य चिरकाल तक यश और सम्मान का भागी होता है।

"यदि कोई धर्म सम्बन्धी प्रश्न पूछे तो देर तक उस पर विचार कर तब उसका उत्तर देना चाहिये। इस प्रकार का आचरण करनेवाला मनुष्य कभी दुःख का भागी नहीं होता और उसका परम कल्याण होता है।"

भाग-दौड़, शीघ्रता और चंचलता के इस युग में महाभारत की यह कथा हमारा ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर हमसे मानो कह रही है—— ऐ मानव ! दौड़ने के पहले एक क्षण रुककर सोच तो ले कि दौड़कर तुझे पहुँचना कहाँ है ? वहाँ पहुँचकर पाना क्या है ? क्या अर्थहीन भाग-दौड़ ही जीवन का प्रयोजन है ?

•

शौच

घनश्याम श्रीवास्तव 'घन'

धर्माचरण में शौच का उतना ही महत्त्व है जितना जीवन में आहार का। शौच का अर्थ है शुद्धि, पवित्रता। वस्तुतः शौच ही धर्म का आधार है। इसी से धार्मिकता की परिपुष्टि होती है। यह शौच दो प्रकार का होता है--एक बाह्य और दूसरा आन्तरिक। बाह्य शौच के अन्तर्गत शरीर और भोजन की पवित्रता तथा आन्तरिक शौच के अन्तर्गत मन और बुद्धि की पवित्रता आती है।

साधना से ही सिद्धि मिलती है; भगवत्साक्षात्कार होता है। साधना का माध्यम है स्वस्थ शरीर। अतः साधन-पथ पर चलने के लिए शरीर की शुद्धि और आरोग्य की परम आवश्यकता है। यदि शारीरिक स्वच्छता पर ध्यान न दिया जाय तो शनैः शनैः त्वचा के ऊपर मल इकट्ठा होता जाता है, जिसके कारण शरीर में अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। ये रोग दुःख-दायी तो हैं ही, साथ ही साधन-भजन में प्रबल बाधक भी हैं। ये देह को दुर्बल करने के अतिरिक्त मन को अस्थिर कर उसे अपनी ओर खींच लेते हैं, जिससे साधना की गति अवरुद्ध हो जाती है। अन्य सांसारिक कार्य भी अस्वस्थ शरीर के द्वारा नहीं हो पाते, जिससे जीवन-व्यवस्था में व्यतिक्रम उपस्थित हो जाता है। मल-

प्रक्षालन के लिए प्रतिदिन स्नान करना नितान्त आवश्यक है। आहार-विहार में संयम रखते हुए कलुषित वातावरण और गन्दी वस्तुओं के स्पर्श-सेवन का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए। इसी में स्वास्थ्य की रक्षा और साधना की प्रगति है।

दूसरी ध्यान देने की बात है भोजन की पवित्रता। भोजन के पवित्र होने पर शरीर को धारण करनेवाले रस-रक्त-वीर्यादि सप्त धातु पवित्र होते हैं; मन पवित्र होता है। अतः साधक को सदैव शुद्ध सात्त्विक आहार ग्रहण करना चाहिए। भगवद्गीता (१७/८) में भी भगवान् ने सात्त्विक आहार के सम्बन्ध में कहा है--

आयुः सत्त्वबलारोग्य-सुख-प्रीति-विवर्धनाः ।।
रस्याः स्निग्धाः स्थिराहृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः।।

--'आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और भगवत्प्रीति को बढ़ानेवाले तथा सरस, स्निग्ध और स्थिर-सारयुक्त रुचिकर भोज्य पदार्थ सात्त्विक पुरुष को प्रिय होते हैं।'

मांस-मदिरादि अपवित्र वस्तुओं का सेवन पूर्णतया वर्जित है, क्योंकि इनसे मन दूषित होता है, बुद्धि मलिन होती है और विवेक नष्ट होता है। बुद्धि-विवेक के नष्ट होने पर मनुष्य का शीघ्र ही पतन हो जाता है। इससे दुराचार और पाप की वृद्धि होती है। इनके स्थान पर भोजन में सात्त्विक पदार्थों (दूध, दही, घी और मक्खन आदि) का प्रयोग अधिक लाभकारी है।

ऐसा भोजन मन में देवत्व की वृद्धि करता है।

भगवती श्रुति कहती हैं--

'अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थाविष्टो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः।'—छा. उ., ६।५।१

--'खाया हुआ अन्न तीन प्रकार का हो जाता है। उसका अत्यन्त स्थूल भाग मल, मध्यम भाग मांस और जो अत्यन्त सूक्ष्म है वह मन हो जाता है।'

मन अन्न का ही सार तत्त्व है। 'जैसा अन्न वैसा मन'--यह कहावत प्रसिद्ध है। सारी साधना मन पर ही अवलम्बित है, क्योंकि साधनभूत इन्द्रियों के प्रवर्तन में मन ही कारण है। शुद्ध अन्न से बना मन निर्मल होता है। शुद्ध अन्न का तात्पर्य है---न्यायोपार्जित धन और परिश्रम से प्राप्त किया गया अन्न, एवं प्रेम और श्रद्धा से बनाया गया उसका परिपाक। निर्मल मन में काम-क्रोध और राग-द्वेषादि का अभाव हो जाता है, और ऐसी विकारशून्य अवस्था में मन के भीतर प्रसन्नता वास करती है। प्रसन्नता से चित्त-चांचल्य दूर होता है और विक्षेप का लोप होने पर मानसिक एकाग्रता प्रकट होती है। एकाग्र मन बाह्य विषयों में बिखरी हुई अपनी शक्ति को समेटकर परम शक्तिमान् बन जाता है। वह अपनी ही ज्योति से प्रकाशित हो उठता है। मन की यह क्षमता उसे आत्म-साक्षात्कार के योग्य बना देती है। यह है शौच का शुभ फल।

आन्तरिक शौच बाह्य शौच से कहीं अधिक महत्त्व-पूर्ण है। यह विधि पूर्णतः अन्तःकरण की शुद्धि पर केन्द्रित है। मन-बुद्धि की पवित्रता ही इसका स्वरूप है। इस विधि से स्थायी तौर पर और शीघ्र ही मन का परिष्कार हो जाता है जीवन के समस्त व्यापार मन का ही खेल हैं। मन के ठीक होने पर सब कुछ ठीक है। शरीर पवित्र ही रहा, पर मन पवित्र नहीं रहा तो ऐसी दशा में परमार्थ की प्राप्ति नहीं हो सकती। श्रुति का वचन है--'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' अर्थात् निर्मल मन से ही आत्मा का दर्शन होता है। इसलिए भगवदुपलब्धि में मानसिक पवित्रता ही हेतु है।

प्रकृति से बनी सभी वस्तुएँ अपने भीतर मल की उत्पत्ति करती हैं। मलपूर्ण पंचभूतों से निर्मित शरीर, अन्न और मन में प्रतिक्षण मल बनता रहता है। शरीर का मल नाक, कान, आँख, मुख, शिश्न, गुदा और त्वचा के छिद्रों से विविध रूप में बाहर निकलता रहता है और मन का मल काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, राग और द्वेष के रूप में कुकर्मों के माध्यम से बाहर आता रहता है। मन के द्वारा परिचालित यह नामरूपात्मक जगत् है ही विकारमय। मन मानो एक गृह के सदृश है। सुखप्रद और आरोग्यवर्धक आवास के लिए जैसे गृह की स्वच्छता आवश्यक है, वैसे ही शान्ति और आनन्द के लिए मन की स्वच्छता आवश्यक है। जैसे कूड़ा-करकट और जूठन आदि से गृह अपवित्र

होता है, वैसे ही विषय-विकारों से मन अपवित्र होता है। घर की गन्दगी झाड़ू-बुहारू से दूर होती है, तो मन की गन्दगी परम निर्मल भगवन्नाम से दूर होती है। जिस प्रकार प्रातः-सन्ध्या नियमपूर्वक सफाई करने से घर ठीक रहता है, उसी प्रकार प्रातः-सन्ध्या नियमपूर्वक जप-ध्यान करने से मन ठीक रहता है। अतः इस गृहरूपी मन की पवित्रता के लिए साधन-अभ्यास में तत्पर हो जाना हमारा प्रमुख कर्तव्य है।

कई लोग कहते हैं—'पाँच वर्ष साधन-अभ्यास करते हो गये, पर मन में कोई अन्तर नहीं पड़ा; विषय-विकार अब भी वैसे ही सताते हैं।' इसका उत्तर तो यही है कि जहाँ कई मन विष्ठा पड़ी हुई हो वहाँ से पाँच चम्मच विष्ठा यदि हटा दी जाय तो दुर्गन्ध में क्या अन्तर पड़ेगा?—कुछ भी नहीं। पर हाँ, इसी प्रकार परिश्रम करते-करते जब तीन-चौथाई विष्ठा हट जायगी तब कहीं यह अनुभव होगा कि दुर्गन्ध कम हुई है। ठीक यही दशा मन की भी है। असंख्य जन्मों से मलिन बना हुआ मन थोड़े समय के अभ्यास से ही शुद्ध नहीं हो जाता। सम्भव है इसके शुद्ध होने में अनेकों जन्म लग जायँ। अतएव फलाशा को छोड़कर अध्यवसाय में लग जाना चाहिए। समय आने पर यह शुद्धता को प्राप्त होगा ही। 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।'

श्रीरामकृष्ण परमहंस कहा करते थे, 'यह मन स्प्रिंग

की गद्दी के समान है। जब तक गद्दी पर बैठे रहो तब तक तो वह दबी रहेगी, पर ज्योंही उठे कि वह फिर ऊपर उठ जाती है।' इसी प्रकार जब तक साधन-भजन अथवा साधु-संग चलता रहता है तब तक तो मन के विकार दबे रहते हैं, पर साधन-भजन छोड़ते ही वे सब प्रबल हो उठते हैं और मन फिर पहले-जैसा ही हो जाता है।

इतने दृढ़ हैं मनुष्य के विषय-संस्कार। तो ऐसे मन को ठीक कर लेना सहज कार्य नहीं है। इसके लिए तो जीवन भर का भगीरथ संकल्प लेना होगा और अन्त काल तक सतत अभ्यास में संलग्न रहना होगा।

जन्म-जन्मान्तर से यह मन वासनायुक्त होकर विषयों का सेवन करता चला आ रहा है। भोग-विषयों में ही इसकी पूरी रुचि है। भगवान् तो इसे विष-तुल्य लगते हैं। यही कारण है कि इसने मनुष्य को अनादि काल से जन्म-मृत्यु के दुःख-चक्र में डाल रखा है। यह घोर संसार-बन्धन तब तक नहीं कटेगा जब तक मन आत्माभिमुख होकर विषयों से मुक्त नहीं होता। जिस प्रकार हवा अपने वेग से एकत्र किये हुए मेघ-खण्डों के द्वारा सूर्य-प्रकाश को ढककर सर्वत्र अन्धकार फैला देती है और पुनः उन बादलों को फाड़कर प्रकाश विकीर्ण कर देती है, ठीक उसी प्रकार यह मन विषयासक्त होकर बन्धन का निर्माण करता है और निर्विषय होकर मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करता है।

भगवान् श्री शंकराचार्य 'विवेकचूड़ामणि' में

(२७७) कहते हैं--

यदा यदा प्रत्यगवस्थितं मनः
तदा तदा मुञ्चति बाह्यवासना ।
निःशेषमोक्षे सति वासनानाम्
आत्मानुभूतिः प्रतिबन्धशून्या ॥

--'मन जैसे जैसे अन्तर्मुख होकर प्रत्यगात्मा में स्थित होता जाता है वैसे वैसे ही वह बाह्य वासनाओं को छोड़ता जाता है। जिस समय वासनाओं से पूर्णतया मुक्ति मिल जाती है उस समय प्रतिबन्धशून्य आत्मानुभव होने लगता है।'

लोकैषणा, वित्तैषणा और पुत्रैषणा--ये तीन एषणाएँ वासना के रूप हैं। इनमें उलझे हुए मन को कभी अवकाश नहीं मिलता कि वह भगवत्-चिन्तन कर सके। वह अहर्निश इनमें ही डूबा हुआ सदा विषय-चिन्तन करता रहता है, मानो उस मन में विषय-संस्कारों की ऐसी दृढ़ गाँठ पड़ गयी है जो कभी खुलती ही नहीं। इससे मुक्त होने का उपाय श्रुति भगवती निम्नलिखित मन्त्र में बतलाती है--

'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।'

—छा. उ., ७।२६।२

--'आहार की शुद्धि अर्थात् विषयोपलब्धि-रूप ज्ञान की शुद्धि होने पर अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) की शुद्धि होती है। अन्तःकरण की शुद्धि होने पर

निश्चल स्मृति होने लगती है अर्थात् भगवान् का निरन्तर स्मरण होता है तथा ऐसी स्मृति की प्राप्ति होने पर (विषय-वासना आदि) सम्पूर्ण ग्रन्थियों की निवृत्ति हो जाती है।'

विषय मन और इन्द्रियों के आहार हैं। सांसारिक व्यापार के संस्पर्श में वे दूषित बने रहते हैं और सांसारिक दोषों से मुक्त होने पर वे ही पारमार्थिक बन जाते हैं। तब यह आहार-शुद्धि प्राप्त होती है। उस अवस्था में कर्ण भगवद्गुण-गान और हरि-चर्चा श्रवण करने में सुख मानते हैं, उन्हें राग-द्वेष-युक्त सांसारिक बातें नहीं सुहातीं। नेत्रों को भगवद्विग्रह तथा साधु-सन्तों का दर्शन करने में सुख मिलता है। वाणी नारायण-स्तुति और सद्ग्रन्थ-पाठ में आनन्द लेती है। कामुकता-पूर्ण स्त्री-रूप-दर्शन से नेत्र मुड़ जाते हैं और कामिनी-कांचन की वार्ता तथा फिल्मों के अश्लील गीत तो जिह्वा पर उतरते ही नहीं। जिह्वा बस हरि-नाम का अमृत-रस-पान करती रहती है। मन्दिर-मठ और देवालयों की ओर पैर बरबस चल पड़ते हैं। हाथों से साधु-सेवा, दान और पूजादि कर्म होते रहते हैं। वस्तुतः यह शुद्धि सत्संग और सन्त-समागम का ही शुभ परिणाम है।

अन्तःकरण की शुद्धि होने पर मन के संकल्प-विकल्प और बुद्धि के समस्त निश्चय भगवन्मय हो जाते हैं। चित्त के संस्कारों का—रागद्वेषादि अनर्थसमूह का सर्वथा नाश हो जाता है। 'अहं' में शुद्ध सात्त्विक आत्मभाव प्रतिभासित

होने लगता है और अध्यास का लोप हो जाता है।

भगवान् श्रीशंकराचार्य 'विवेकचूड़ामणि' में (२६९) अध्यास की बड़ी सुन्दर परिभाषा करते हैं--

'अहं ममेति यो भावो देहाक्षादावनात्मनि।
अध्यासोऽयं निरस्तव्यो विदुषा स्वात्मनिष्ठया ॥'

--"देह, इन्द्रिय तथा देह से सम्बन्धित अन्य प्राणि-पदार्थों (अनात्म वस्तुओं) में जो 'मैं अथवा मेरा' भाव है, यही अध्यास है। विद्वान् को आत्मनिष्ठा द्वारा इसे दूर कर लेना चाहिए।"

तत्पश्चात् उदय होता है 'सच्चिदानन्दरूपोऽहं'--यह आत्मभाव। इससे भगवत्-स्मृति निश्चल होती है और स्मृति की निश्चलता वासनात्रय को नष्ट कर मोक्ष का द्वार खोल देती है।

आन्तरिक शौच के सम्बन्ध में महानिर्वाण तन्त्र में कहा है--'ब्रह्मण्यात्मार्पणं यत्तच्छौचम् आन्तरिकं स्मृतम्।'

--'ब्रह्म में आत्मा (अहं) का अर्पण कर देना ही आन्तरिक शौच है।'

भक्ति की भाषा में यह साधना आत्म-निवेदन और ज्ञान की भाषा में आत्मलय के नाम से प्रसिद्ध है। वास्तव में अहंभाव के रहते भगवत्प्राप्ति असम्भव है। अपना अस्तित्व भगवान् से पृथक् खड़ा कर लेना ही परमार्थ-पथ की सबसे बड़ी बाधा है। मैं भगवत्सत्ता से विलग अन्य कुछ हूँ--इस धारणा को अहंकार या मूढ़ता कहते हैं। यह एक प्रकार से भगवान् को चुनौती

है। रावण, बाणासुर और जरासन्ध आदि ने, जिन्हें अपने पराक्रम का बड़ा गर्व था, भगवान् को चुनौती दी थी; फलस्वरूप उनका सर्वनाश हुआ। हम भी गर्व-अहंकार में काम-क्रोधादि के वशीभूत हो कार्य करते हैं, पर यह नहीं जानते कि अन्ततोगत्वा इसका परिणाम भयानक और महा दुःखदायी होगा। यही अज्ञान का वह आवरण है, जिससे मानवीय बुद्धि आच्छादित रहा करती है। ज्ञानी पुरुष इस रहस्य को जानता है। इसीलिए वह सदैव ब्रह्मार्पण-बुद्धि से कर्म करता है। कर्मफलासक्ति का पाप उसे नहीं लगता। वह अपनी आत्मा अर्थात् स्वयं का ईश्वर में लय कर देता है। उसकी दृष्टि में भगवत्सत्ता से पृथक् अन्य कोई सत्ता है ही नहीं। तभी तो वह मन्त्र-ध्वनि से उद्घोष करता है—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'अहं ब्रह्मास्मि'। ज्ञान के आलोक में उसका विमल अन्तःकरण दीप्तिमान बना रहता है; हृदय की चिज्जड़-ग्रन्थि नष्ट हो जाती है। वह सदा निर्भय और प्रसन्न रहा करता है। संसार के द्वन्द्व उसे नहीं व्यापते। मृत्यु के पूर्व ही वह मोक्षपद का अधिकारी बन जाता है।

भक्त कहता है—'भगवान् ही मेरे सर्वस्व हैं। मैं कुछ नहीं हूँ। यदि कुछ हूँ तो उनके पादारविन्द का सेवक, उनका अकिंचन दास।' भगवद्-विग्रह के सम्मुख वह साष्टांग प्रणाम करता है, नाक रगड़ता है, रोता है, हँसता है, गाता है और भगवत्प्रेम में विभोर होकर नृत्य करता है। अपना सर्वस्व श्रीभगवान् को अर्पित

कर वह मन, वाणी और शरीर से बस उन्हीं का हो जाता है । भगवान् के अतिरिक्त अन्य कुछ वह जानता ही नहीं । विक्षिप्त की-सी दशा बनी रहती है उसकी । ईश्वरोन्माद में सारा जीवन व्यतीत कर देहावसान के पश्चात् वह देवदुर्लभ सायुज्य-मुक्ति को प्राप्त करता है ।

आन्तरिक शौच का कैसा प्रांजल रूप है यह !

योगदर्शन में शौच की महत्ता उच्चतम शिखर तक पहुँचा दी गयी है । शौच का अन्तिम फल आत्मदर्शन बतलाया गया है ।

'सत्त्वशुद्धि-सौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्य-त्वानि च ।'—योगसूत्र २।४१

—'अन्तःकरण की शुद्धि, मन की प्रसन्नता, चित्त की एकाग्रता, इन्द्रियों का वशीकरण और आत्मसाक्षात्कार की योग्यता—ये शौच के महाफल हैं ।'

शुचिता के सम्बन्ध में युगाचार्य स्वामी विवेकानन्द ने कहा था—'शुचि बनने के प्रयास में यदि मर भी जाओ तो क्या, सहस्र बार मृत्यु का स्वागत करो । यदि किसी व्यक्ति में सत्य, पवित्रता और निःस्वार्थता—ये तीन बातें विद्यमान हैं तो इस ब्रह्माण्ड में ऐसी कोई शक्ति नहीं जो उसका बाल भी बांका कर सके ।'

मन, वाणी और कर्म की पवित्रता आध्यात्मिकता की जननी है, यह वैकुण्ठ का द्वार है, यह अमृत है तथा भवरोग की अचूक औषधि और जीवन का परम पाथेय है ।

●

प्रश्न— आत्मा का क्या प्रमाण है? यदि यह मान लिया जाय कि जड़भूतों के सम्मिलन से ही चेतन की उत्पत्ति हो जाती है और शरीर के नष्ट होने पर चेतन भी लुप्त हो जाता है, उसका आगे कोई अस्तित्व नहीं रहता, तो इसके विरोध में क्या तर्क हैं?

—डा. गोविन्ददास, संसद्-सदस्य

उत्तर— आत्मा स्वसंवेद्य है, अतः स्वसंवेद्यता ही उसका प्रमाण है। जड़भूत स्वसंवेद्य नहीं है। उसकी संवेदना प्राप्त करने के लिए उससे भिन्न एक चेतन तत्त्व की आवश्यकता है। यह चेतनतत्त्व जड़तत्त्व से भिन्न है। और ये दोनों के दोनों उसकी अभिव्यक्तियाँ हैं जिसे हम आत्मा के नाम से पुकारते हैं। इस आत्मा को गीता में पुरुषोत्तम के नाम से पुकारा गया है तथा जड़ और चेतन तत्त्वों को अपरा और परा प्रकृति का नाम दिया गया है। यह चेतन जड़ में अविच्छिन्न रूप से भिदा है और उसमें अनुस्यूत है। उपयुक्त परिस्थितियाँ प्राप्त होने पर यह चेतन प्रकाशित हो जाता है और परिस्थितियों के नष्ट होने पर उसका प्रकाशित होना बन्द हो जाता है। जैसे, चन्दन और उसमें व्याप्त सुगन्ध, अथवा काठ और उसमें व्याप्त अग्नि।

जड़ की दो श्रेणियाँ हैं--स्थूल और सूक्ष्म। शरीर स्थूल जड़ है और मन सूक्ष्म जड़। यह चेतना इन दोनों में अनुस्यूत और व्याप्त होकर स्थित है। जहाँ भी जड़भूतों के सम्मिलन से उपयुक्त वातावरण (conditions) बनता है, वहाँ जड़भूतों में पहले से ही अदृश्यरूप से विद्यमान चेतन प्रकाशित हो जाता है। अभी यह चेतन शरीर के माध्यम से प्रकाशित है। शरीर के नष्ट होने पर वह सूक्ष्म शरीर यानी मन के माध्यम से प्रकाशित होगा और उसे एक योनि से दूसरी योनि में ले जायगा। पुनः नया शरीर प्राप्त होने पर चेतन उस शरीर के माध्यम से प्रकाशित होगा।

पर जब मुक्ति की अवस्था आती है तो शरीर के नाश के बाद मन भी नष्ट हो जाता है। तब उसमें व्याप्त चेतन आत्मा में ही समाहित हो जाता है। जैसे, दर्पण के फूटने पर प्रतिबिम्ब बिम्ब में ही लीन हो जाता है।

उदाहरण के लिए, पावर हाउस, तार और बल्ब का दृष्टान्त लें। पावर हाउस की उपमा आत्मा से दें, तार की मन से, बल्ब की शरीर से तथा बिजली की उपमा चेतन से। बल्ब फूटने पर बिजली कहाँ जाती है?—तार में। और तार के टूटने पर वह कहाँ जाती है?--पावर हाउस में। इसी प्रकार, शरीर के नष्ट होने पर चेतन मन में रहता है और मन के नष्ट होने पर आत्मा में विलीन हो जाता है।

सामान्य लोगों के लिए, जो सूक्ष्म दृष्टिसम्पन्न नहीं हैं, यही कहा जा सकता है कि शरीर के नष्ट होने पर चेतन मन के यानी सूक्ष्म शरीर के स्तर पर क्रियाशील हो जाता है। प्रश्न में जो बात कही गयी है वह ऊपरी दृष्टि से सत्य तो मालूम पड़ती है, पर वह स्थूल दृष्टि है और तत्त्व की दृष्टि से असत्य है।

●

आश्रम समाचार

(१ सितम्बर से ३० नवम्बर तक)

१. विवेकानन्द धर्मार्थ औषधालय

ऐलोपैथी विभाग--आलोच्य ३ माह की अवधि में कुल १३,८६४ रोगियों की निःशुल्क चिकित्सा की गयी, जिनमें ४,३९२ रोगी नये थे। इनमें क्रानिक उदररोग से पीड़ित व्यक्तियों की संख्या ३० थी। १,६२३ इंजेक्शन लगाये गये। ३५ दन्त-रोगियों में से ४ रोगियों के दांत निकाले गये। सर्जिकल--६५। माइनर सर्जिकल आपरेशन--९। आंखों के रोगी--११७। स्त्री-रोग से रुग्ण--१०९। एक्स-रे स्क्रीनिंग--३४। बेरियम स्टडीज--५। सिगमोइडोस्कोपी--७। रक्त-मल-मूत्र परीक्षण--१८० नमूने।

नवम्बर महीने से अभावग्रस्त परिवारों के बच्चों में दूध बांटने का काम शुरू किया गया। ३० नवम्बर तक ११९ बच्चों को दूध बांटा गया।

होमियोपैथी विभाग--इस विभाग द्वारा ५,१६५ रोगियों का निःशुल्क उपचार किया गया जिनमें १,०३८ रोगी नये थे।

२. विवेकानन्द स्मृति ग्रन्थालय और निःशुल्क वाचनालय

आलोच्य अवधि में ग्रन्थालय में ३३८ पुस्तकों की वृद्धि हुई। ३० नवम्बर को पुस्तकों की कुल संख्या १५,५५० थी। इस बीच ४,६०४ पुस्तकें निर्गमित हुईं। वाचनालय में पाठकों को १०२ पत्र-पत्रिकाएँ और दैनिक समाचार-पत्र उपलब्ध हुए। इस अवधि में लगभग ८,५०० पाठकों ने वाचनालय का उपयोग किया।

३. विवेकानन्द विद्यार्थी भवन

विद्यार्थियों के लिए विवेकानन्द अध्ययन वर्ग द्वारा ५ धार्मिक कक्षाएँ आयोजित की गयीं।

४. धार्मिक और सांस्कृतिक कार्यक्रम

साप्ताहिक सत्संग— रविवासरीय गीताप्रवचनमाला के अन्तर्गत स्वामी आत्मानन्द ने ६, १३, २०, २७ सितम्बर, ४, ११, १८ अक्तूबर तथा १ नवम्बर को गीता पर प्रवचन दिये। अब तक गीता पर उनके ९७ प्रवचन हो चुके हैं।

ब्रह्मचारी निर्गुण चैतन्य ने ८, १५, २२, २९ सितम्बर, ६, १३, २०, २७ अक्तूबर तथा ३, १०, २४ और २९ नवम्बर को रामचरितमानस पर प्रवचन दिया।

श्रीसन्तोष कुमार झा ने १० सितम्बर, १, २२ अक्तूबर तथा १७, २२ नवम्बर को नारदभक्तिसूत्र पर प्रवचन दिया।

प्राध्यापक देवेन्द्रकुमार वर्मा ने १७ सितम्बर, ८, २५ अक्तूबर तथा १२, १९ नवम्बर को हिन्दू धर्म पर प्रवचन दिया।

डा. अशोक कुमार बोरदिया ने ३, २४ सितम्बर, १५ अक्तूबर तथा ५, १५, २६ नवम्बर को पातंजल-योगदर्शन पर प्रवचन दिया।

१ सितम्बर को श्री प्रेमचन्द जैस की रामायण-कथा हुई।

१६ सितम्बर को श्री माँ सारदा देवी के शिष्य स्वामी गौरीश्वरानन्दजी महाराज के सम्मान में एक सभा हुई जिसमें उन्होंने श्री माँ के सरस संस्मरण सुनाकर श्रोताओं को भावविभोर कर दिया।

आश्रम-कार्यकर्ताओं के अन्यत्र कार्यक्रम

स्वामी आत्मानन्द——४ सितम्बर को महाराष्ट्र मण्डल, रायपुर के गणेशोत्सव का उद्घाटन किया। ५ सितम्बर को शान्तिनगर रायपुर में स्थित राम-मन्दिर में 'गीता का प्रयोजन' विषय पर भाषण। ६ सितम्बर को विश्व हिन्दू परिषद् रायपुर द्वारा आयोजित समारोह में 'हिन्दू धर्म की विशालता' पर भाषण। ७ सितम्बर को अकलतरा में डा. ज्वालाप्रसाद मिश्र के निवास-

स्थान पर संगोष्ठी। उसी रात्रि उच्चतर माध्यमिक विद्यालय के गणेशोत्सव में 'शंकर-पार्वती-सुत गणेश' पर प्रवचन। ८ सितम्बर को वहीं के शासकीय कन्या उ. मा. विद्यालय में 'कन्या के दायित्व' पर लड़कियों को सम्बोधित किया। उसी रात्रि गणेशोत्सव में 'शरणागति रहस्य' पर प्रवचन। ९ सितम्बर को सुबह शिक्षकों और विद्यार्थियों के बीच बैठ उनके प्रश्नों का समुचित उत्तर दिया। उसी दिन अपराह्न जांजगीर के बी. टी. आई. में 'स्वामी विवेकानन्द की देन' विषय पर व्याख्यान दिया और रात्रि में अकलतरा के गणेशोत्सव में स्वामीजी 'युग की माँग' विषय पर बोले।

१० सितम्बर को उन्होंने गोंदिया के बी. टी. कालेज की प्रार्थना-सभा का उद्घाटन किया। उसी रात्रि स्थानीय रामकृष्ण सेवा समिति का भी उद्घाटन स्वामीजी द्वारा किया गया। ११ सितम्बर को उन्होंने वहाँ के गुजराती हाईस्कूल में 'स्वामी विवेकानन्द का बाल्यकाल' विषय पर भाषण दिया। उसी रात्रि सिवनी में महाराष्ट्र मण्डल के तत्त्वावधान में आयोजित गणेशोत्सव में 'गीता का कर्मयोग' पर प्रवचन दिया। १३ सितम्बर को नगरी में 'कर्मयोग और जीवन' पर प्रवचन। २० सितम्बर को रामकृष्ण सेवा मण्डल, भिलाई में गीता पर प्रवचन। २९ सितम्बर को चिरमिरी में लाहिड़ी महाविद्यालय के छात्रसंघ के शपथ-ग्रहण समारोह में वे प्रमुख अतिथि रहे।

१ अक्तूबर को चिरमिरी महाविद्यालय के सभाभवन का नया नामकरण 'गाँधी भवन' के रूप में किया गया। उस समारोह में प्रमुख अतिथि के रूप से भाग लेते हुए स्वामीजी ने 'गाँधी-दर्शन' पर व्याख्यान दिया। २ अक्तूबर को कोरिया कालियारी के क्लब में उन्होंने एक अध्ययन गोष्ठी को अंग्रेजी में सम्बोधित किया और इस पर चर्चा की कि अध्यात्म वस्तुतः क्या है। ३ अक्तूबर

को चिरमिरी के लाहिड़ी महाविद्यालय में राष्ट्रीय एकता दिवस के उपलक्ष्य में स्वामीजी का भाषण हुआ।

६ अक्तूबर को स्वामीजी नवापारा (राजिम) गये और वहाँ एकत्र जनसमुदाय को 'अध्यात्म बनाम भौतिकता' विषय पर सम्बोधित किया। ११ अक्तूबर को भिलाई में रामकृष्ण सेवा मण्डल की ओर से आयोजित अध्ययन-वर्ग के समक्ष 'गीता' पर प्रवचन किया।

१४ अक्तूबर को स्वामीजी बिलासपुर में थे। वहाँ श्रीमती गिरजादेवी अग्निहोत्री के निवास पर, उनके द्वारा अपनी सम्पत्ति के एक बड़े भाग को स्थानीय श्रीरामकृष्ण सेवा समिति को समर्पित करने के अवसर पर स्वामीजी ने उपस्थित गण्यमान्य जनों को रामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा की अपूर्वता पर सम्बोधित किया तथा १७ अक्तूबर की शाम को उसी निमित्त स्थानीय टाउनहाल में आयोजित बृहत् जनसभा के समक्ष उक्त भावधारा की मौलिकता पर विचार व्यक्त किये। १८ अक्तूबर की सुबह स्वामीजी ने बिलासपुर के टाउनहाल में आयोजित सर्वधर्म-सम्मेलन का उद्घाटन किया।

३ नवम्बर को भिलाई रोटरी क्लब में उन्होंने 'The Present-day Crisis and Its Remedy' विषय पर भाषण दिया। १३ नवम्बर को ग्वालियर-स्थित रामकृष्ण आश्रम के तत्त्वावधान में भारतीय कला केन्द्र, नयी दिल्ली द्वारा प्रस्तुत 'रामलीला-नृत्य-नाट्य' के महामहिम राज्यपाल श्री के. सी रेड्डी द्वारा उद्घाटन के अवसर पर स्वामीजी ने उपस्थित विशाल जनसमूह को 'रामकथा' पर सम्बोधित किया। उसी प्रकार १५ नवम्बर को भी उन्होंने रामलीला-दर्शकों की अपार भीड़ के समक्ष रामायण को एक आध्यात्मिक रूपक के रूप में प्रस्तुत करते हुए रामचरितमानस पर चर्चा की। भारतीय कला केन्द्र के

कलाकार वास्तविक ही बधाई के पात्र हैं जिन्होंने अत्यन्त कुशलतापूर्वक अपने अपने पात्र-चरित्र का अभिनय किया। पार्श्वसंगीतकारों ने अभिनय म प्राण फूंक दिये और विद्युत्प्रकाश की रंग-बिरंगी सज्जा ने रंगमंच को मनोहारी देवलोक बना दिया।

२० नवम्बर को स्वामीजी रींवा आये और वहाँ अवधेशप्रतापसिंह विश्वविद्यालय के अन्तर्गत गठित राष्ट्रीय सेवा संगठन के तत्वावधान में आयोजित प्राध्यापकों एवं विद्यार्थियों की सभा को 'राष्ट्रीय एकता में धर्म की भूमिका' विषय पर सम्बोधित किया।

२१ से २७ नवम्बर तक रामकृष्ण मठ एवं मिशन के अध्यक्ष पूज्यपाद स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज का निवास जबलपुर में रहा। उस अवसर पर उन्होंने २२ नवम्बर को जबलपुर में स्वतन्त्र रूप से चलनेवाले श्रीरामकृष्ण आश्रम के नवनिर्मित ग्रन्थालय एवं धर्मार्थ औषधालय भवन का उद्घाटन किया। अपने उद्बोधक भाषण में पूज्यपाद महाराजजी ने भगवान् श्रीरामकृष्ण देव एवं श्री माँ सारदादेवी के जीवनचरित्र की अनुपमता को भावपूर्ण शब्दों में अभिव्यंजित किया और स्वामी विवेकानन्द के युगनिर्माणकारी विचारों को युक्तिसंगत रूप से प्रस्तुत किया। इस अवसर पर स्वामी आत्मानन्द तथा रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के प्रमुख स्वामी व्योमानन्द ने भी अपने विचार व्यक्त किये।

२३ नवम्बर को स्वामी आत्मानन्द ने जबलपुर विश्वविद्यालय के छात्रसंघ द्वारा आयोजित समारोह में 'विज्ञान के युग में धर्म का भविष्य' विषय पर व्याख्यान दिया। २८ नवम्बर को वे इन्दौर में थे जहाँ उन्होंने रामकृष्ण आश्रम के वार्षिकोत्सव में भाग लिया। रामकृष्ण मिशन के प्रसिद्ध विचारक एवं वक्ता श्रीमत् स्वामी रंगनाथानन्द महाराज भी उक्त कार्यक्रम हेतु इन्दौर

पधारे थे। २८, २९ और ३० नवम्बर के सार्वजनिक समारोह में स्वामी रंगनाथानन्दजी ने प्रमुख अतिथि के रूप से क्रमश: 'Sri Ramakrishna and Swami Vivekananda in the Present-day World-context', 'Eternal Message of the Bhagavadgita' एवं 'Vedanta and Modern Scientific Thought' पर भाषण दिया तथा स्वामी आत्मानन्द ने सभाध्यक्ष की हैसियत से क्रमश: 'आधुनिक नारी को श्री माँ सारदा का सन्देश', 'गीता से मैंने क्या सीखा है' एवं 'वेदान्त का व्यवहार-योग' इन विषयों पर चर्चा की। ३० नवम्बर को मठ महाविद्यालय के स्नातकोत्तर छात्र-परिषद् द्वारा आयोजित सभा को स्वामिद्वय ने 'नीति बनाम राजनीति' पर सम्बोधित किया।

ब्रह्मचारी निर्गुण चैतन्य—९ सितम्बर को सार्वजनिक गणेशोत्सव समिति, भिलाई द्वारा आयोजित गणेशोत्सव में भाषण। १४ सितम्बर को नगरी में सार्वजनिक सभा को 'जीवन का उद्देश्य तथा कर्मयोग' पर सम्बोधित। ३ अक्तूबर को गिरधर भवन, रायपुर में 'रामचरितमानस' पर प्रवचन। ४ अक्तूबर को बेमेतरा दुर्गोत्सव समिति में 'भक्तियोग' पर भाषण। ८ अक्तूबर को गिरधर भवन रायपुर में 'सत्संग की महिमा' पर व्याख्यान। २२ नवम्बर को नन्दिनी माइन्स में 'मानस के चार घाट' पर प्रवचन।

सन्तोषकुमार झा—६ सितम्बर को मुरलीमनोहर मन्दिर रायपुर में 'गीता का सन्देश' विषय पर व्याख्यान। ११ सितम्बर को रंगमन्दिर, रायपुर में 'नैतिक जीवन की आवश्यकता' पर भाषण। २२ सितम्बर को नन्दिनी माइन्स में 'भगवान् राम का जीवन-सन्देश' पर प्रवचन। २७ सितम्बर को भिलाई में 'नारद-भक्तिसूत्र' पर प्रवचन। ८ अक्तूबर को बेमेतरा के दुर्गोत्सव में 'गीता का कर्मयोग' पर भाषण। १३ अक्तूबर को भिलाई के

रोटरी क्लब में 'आधुनिक युग में धर्म की आवश्यकता' पर व्याख्यान। १९ अक्तूबर को बिलासपुर में आयोजित सर्वधर्म-सम्मेलन में हिन्दू धर्म पर भाषण। २५ अक्तूबर और २९ नवम्बर को भिलाई में 'नारदभक्तिसूत्र' पर प्रवचन।

देवेन्द्रकुमार वर्मा--५ सितम्बर को लायन्स क्लब, रायपुर द्वारा आयोजित परिसंवाद में व्याख्यान।

विवेकानन्द जयन्ती समारोह--१९७१

इस वर्ष स्वामी विवेकानन्दजी का १०९ वाँ जयन्ती समारोह ११ जनवरी से लेकर ३१ जनवरी १९७१ तक मनाया जा रहा है। ११ से १८ जनवरी तक विभिन्न अन्तर्विद्यालयीन और अन्त-महाविद्यालयीन प्रतियोगिताएँ आयोजित की गयी हैं। १९ जनवरी को स्वामी विवेकानन्द जी की जन्मतिथि है। कार्यक्रम इस प्रकार हैं--

मंगलवार, १९ जनवरी

मंगल आरती, प्रार्थना, ध्यान .. प्रातः ५॥ से ७ बजे तक :

भजन, गीत एवं प्रार्थना .. सुबह ९॥ से ११ बजे तक।

परिसंवाद .. सन्ध्या ६॥ बजे।

विषय--"श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-आविर्भाव की अपूर्वता"।

अध्यक्ष--श्रीमत् स्वामी चिदात्मानन्दजी महाराज (रामकृष्ण मठ एवं मिशन के विश्वव्यापी समस्त केन्द्रों के सहायक महासचिव)

प्रमुख अतिथि—राजमाता श्रीमंत विजयाराजे सिन्धिया, ग्वालियर

विवेकानन्द गीति .. डॉ. अरुण कुमार सेन

बुधवार, २० जनवरी

सर्वधर्मसम्मेलन .. सन्ध्या ६॥ बजे

अध्यक्ष--श्रीमत् स्वामी चिदात्मानन्दजी महाराज

प्रमुख अतिथि—श्री विद्याचरण शुक्ल (केन्द्रीय वित्तमंत्री,

नई दिल्ली) ८ धर्मों (हिन्दू, ईसाई, बौद्ध, इस्लाम, जैन, पारसी, सिक्ख और यहूदी) के प्रतिनिधि भाग ले रहे हैं ।

२१ से २७ जनवरी

रामायण-प्रवचन .. सायंकाल ६॥ बजे

प्रवचनकर्ता--पं. रामकिंकरजी महाराज

(भारत-प्रसिद्ध रामायणी)

२८ से ३१ जनवरी

आध्यात्मिक प्रवचन .. सायंकाल ६॥ बजे

प्रवचनकार— (१) कु. सरोजबाला

(१४ वर्षीय अलौकिक प्रतिभासम्पन्न बालिका)

(२) श्री १०८ स्वामी सत्यमित्रानन्दजी महाराज

(शंकराचार्य, भानुपुरा पीठ)

आप सभी इष्ट-मित्रों सहित इन उपर्युक्त कार्यक्रमों में सादर आमंत्रित हैं ।

•

तुम तो ईश्वर की सन्तान हो, अमर आनन्द के भागीदार हो, पवित्र और पूर्ण आत्मा हो । तुम इस मर्त्यभूमि पर देवता हो । तुम भला पापी ! मनुष्य को पापी कहना ही पाप है, वह मानवस्वभाव पर घोर लांछन है ! उठो ! आओ ! ऐ सिंहो ! इस मिथ्या भ्रम को झटककर दूर फेंक दो कि तुम भेड़ हो, तुम तो जरा-मरण-रहित नित्यानन्दमय आत्मा हो ।

—स्वामी विवेकानन्द

रामकृष्ण मिशन समाचार

(इस स्तम्भ के अन्तर्गत रामकृष्ण मठ और मिशन के अन्य केन्द्रों के संक्षिप्त प्रतिवेदन और सामयिक समाचार प्रकाशित किये जायेंगे ।)

रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, कालीकट

(अप्रैल १९६७ से मार्च १९६८ की रिपोर्ट)

इस सेवाश्रम का कार्य सन् १९३० में शुरू हुआ और १९४३ में उसे रामकृष्ण-संघ के अन्तर्गत ले लिया गया। कालीकट के कल्लाई मुहल्ले में अपनी जमीन पर सन् १९४४ में यह सेवाश्रम स्थानान्तरित हुआ । वहाँ की गतिविधियाँ निम्नलिखित हैं--

हाईस्कूल--इस विद्यालय में कुल ७६० छात्र एवं ५२४ छात्राएँ शिक्षा ग्रहण कर रही थीं ।

लोअर प्रायमरी स्कूल—इस प्राथमिक शाला में ३०० लड़के और २६२ लड़कियाँ थीं ।

विद्यार्थी गृह--यह एक छात्रावास है जिसमें आलोच्य वर्ष में ८७ छात्र थे । यहाँ का वातावरण विद्यार्थियों के चरित्र-गठन के लिए अत्यन्त अनुकूल है। छात्रों के बौद्धिक और शारीरिक विकास पर विशेष बल दिया जाता है ।

धर्मार्थ औषधालय--सेवाश्रम की ओर से एक ऐलोपैथिक धर्मार्थ औषधालय चलाया जाता है, जिसमें कुशल चिकित्सकों की देखरेख रहती है । आलोच्य वर्ष में कुल ४६,९०० रोगियो की निःशुल्क चिकित्सा की गयी।

क्विलांडी आश्रम--इस सेवाश्रम के तत्त्वावधान में क्विलांडी नगर में भी एक आश्रम चलाया जाता है । यहाँ प्रतिदिन पूजा, भजन इत्यादि के कार्यक्रम होते हैं और अवतारी महापुरुषों की जयन्तियाँ सोत्साह मनायी जाती हैं ।

रामकृष्ण मिशन आश्रम, वराहनगर, कलकत्ता

(अप्रैल १९६७ से मार्च १९६८ की रिपोर्ट)

इस शैक्षणिक संस्था का प्रारम्भ १९१२ ई. में हुआ और १९२४ में वह रामकृष्ण-संघ के अन्तर्भुक्त हुई। उसकी गति-विधियाँ निम्नलिखित हैं--

शाला—इस आश्रम की ओर से एक बहुउद्देशीय शाला, दो सीनियर बेसिक स्कूल, एक प्रायमरी स्कूल और दो जूनियर बेसिक स्कूल चलायी जाती हैं। आलोच्य वर्ष में उनमें विद्यार्थियों की संख्या क्रमशः ९७५, २६१, ३६२ और ४३३ थी। पाठ्यक्रम के साथ साथ विद्यार्थियों को धर्म और नीति की भी शिक्षा दी जाती है।

इस शाखा की ओर से एक संस्कृत चतुष्पाठी और एक समाज-शिक्षण केन्द्र चलाया जाता है। समय समय पर शैक्षणिक छाया-चित्र भी दिखाये जाते हैं।

विद्यार्थी गृह---आश्रम की शाला में पढ़नेवाले २०३ विद्यार्थी इस छात्रावास में आलोच्य वर्ष में निवास करते थे। उनमें से कुछ विद्यार्थियों को मासिक खर्च में विशेष छूट दी गयी थी।

ग्रन्थालय---आश्रम के ग्रन्थालय में ५,७६१ पुस्तकें थीं।

धर्मार्थ औषधालय---आश्रम द्वारा एक धर्मार्थ औषधालय भी संचालित होता है जहाँ आलोच्य वर्ष में १६,३३३ रोगियों की निःशुल्क चिकित्सा की गयी।

●

फार्म ४ रूल ८ के अनुसार

'विवेक-ज्योति' विषयक ब्योरा

१. प्रकाशन का स्थान — रायपुर

२. प्रकाशन की नियतकालिता — त्रैमासिक

३-५. मुद्रक, प्रकाशक एवं सम्पादक— स्वामी आत्मानन्द

राष्ट्रीयता — भारतीय

पता — विवेकानन्द आश्रम, रायपुर ।

६. स्वत्वाधिकारी — "रामकृष्ण मिशन, बेलुड़ मठ"

स्वामी वीरेश्वरानन्द, स्वामी निर्वाणानन्द,
स्वामी ओंकारानन्द, स्वामी गंभीरानन्द
स्वामी भूतेशानन्द, स्वामी चिदात्मानन्द
स्वामी तेजसानन्द, स्वामी शान्तानन्द
स्वामी अभयानन्द, स्वामी दयानन्द,
स्वामी सम्बुद्धानन्द, स्वामी पवित्रानन्द,
स्वामी शाम्भवानन्द, स्वामी भास्वरानन्द,
स्वामी कैलासानन्द, स्वामी रंगनाथानन्द,
स्वामी तपस्यानन्द, स्वामी आदिदेवानन्द,
स्वामी गहनानन्द ।

मैं, स्वामी आत्मानन्द, घोषित करता हूँ कि ऊपर दिये गये विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सत्य हैं ।

(हस्ताक्षर) स्वामी आत्मानन्द